गीता-प्रवचन

वि नो बा

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

अनुवादक हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-२२१००१

स्वत्व : सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

संस्करण : तैंतीसवाँ, अगस्त, १९८१

प्रतियाँ : ५,०००, कुल प्रतियाँ ५,९०,०००

मूल्य : ~~छह रुपये~~

मुद्रक : शिव प्रेस, ए० १०/२५, प्रह्लादघाट, वाराणसी

विभिन्न भाषाओंमे 'गीता-प्रवचन'

भाषा	संख्या	भाषा	संख्या
१ हिन्दी	५,९०,०००	१० उर्दू	१,६८,०००
२ मराठी	२,३०,५००	,, नागरी-लिपि	१,०००
,, (आर्या)	५००	११ तेलुगु	७१,०००
३. संस्कृत	१,०००	,, नागरी-लिपि	२,०००
४ कोंकणी	५,०००	१२ तमिल	१,१५,०००
५ गुजराती	२,३०,०००	१३ मलयालम	३५,५००
,, नागरी-लिपि	१,००,०००	१४ कन्नड	९४,०००
,, (आर्या)	२,०००	,, नागरी-लिपि	२,०००
६ सिन्धी	२४,०००	१५ असमी	२३,५००
,, नागरी-लिपि	३,०००	१६ बागडी	३,०००
७ बंगला	४८,३००	१७ मणिपुरी	१,०००
,, नागरी-लिपि	१,०००	१८ मैथिली	१,०००
८ उडिया	३०,०००	१९ अंग्रेजी (भारत)	४८,०००
,, नागरी-लिपि	२,०००	,, (इंग्लैण्ड)	३,०००
९ पंजाबी	११,०००	२० डेनिश	८,०००
,, नागरी-लिपि	२,०००	२१ नेपाली	३,०००
		२२ जर्मन	१,०००

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोका हिन्दी-अनुवाद हिन्दी बोलनेवालोके लिए प्रकाशित हो रहा है, इसमे मुझे खुशी होती है। ये प्रवचन कार्यकर्ताओके सामने दिये गये है और इनमे आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रही है।

इनमे तात्त्विक विचारोका आधार छोडे वगैर, लेकिन किसी वादमे न पडते हुए, रोजके कामोकी बातोका ही जिक्र किया गया है।

यहाँ श्लोकोके अक्षरार्थकी चिन्ता नही, एक-एक अध्यायके सारका चिन्तन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गाँववाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम-परिहार पायेंगे।

मेरे जीवनमे गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोमे वर्णन नही कर सकता। गीताका मुझपर अनन्त उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हू और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ जैसा मैं समझा हूँ, इन प्रवचनोमे समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हूँ कि यह अनुवाद हरएक घरमे, जहाँ हिन्दी बोली जाती है, पहुँचे और घर-घरमे इसका श्रवण, मनन और पठन हो।

परधाम, पवनार
१०-४-'४७

विनोबा

प्रकाशकीय

'गीता-प्रवचन' का यह तेतीसवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है।

पूज्य विनोबाजीके लिए गीता 'आई'—मातृवत् है। उनका कहना है कि 'मेरा शरीर माँके दूधपर जितना पला है, उससे कहीं अधिक मेरे हृदय और बुद्धिका पोषण गीताके दूधपर हुआ है।' मरहूम डॉक्टर जाकिर साहबने उनसे ठीक ही कहा था कि 'आपकी जिन्दगीका नक्शा गीताकी मुहब्बतसे बना है'। 'गीता-प्रवचन' में गीताकी यह मुहब्बत साकार हुई है।

यह तो सभी जानते है कि इस 'गीता-प्रवचन' का आविर्भाव सन् १९३२ में धुलिया जेलमें साने गुरुजी-जैसे सहृदय समर्थ पुरुषके अद्भुत पराक्रमके फलस्वरूप हुआ। तबसे देश-विदेशमें इसका पर्याप्त प्रचार हुआ है।

आज विश्वकी २२ भाषाओं (१८ भारतीय और ४ विदेशी भाषाओं) में 'गीता-प्रवचन' उपलब्ध है। विभिन्न भाषाओंमें उसके संस्करण निकले हैं और लाखों प्रतियाँ छप चुकी हैं। नागरी-लिपिमें १४ भाषाओंमें 'गीता-प्रवचन' प्रकाशित हो चुका है। (विस्तृत विवरण पृष्ठ २ पर है।)

यह 'नित्य पठनीय' 'गीता-प्रवचन' घर-घर पहुँचकर मानव-मात्रको ऊपर उठानेमें सहायक बने, ऐसी हमारी कामना है।

●

गीता-प्रवचन

सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन

'गीता-प्रवचन' में सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। स्थितप्रज्ञ-दर्शन' उसके और आगेका ग्रन्थ है, जिसमे वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापरसे कहा गया है। 'गीताई-कोष' गीताईका सूक्ष्म अध्ययन करनेवालोके लिए है। तीनोमे मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है, वह सक्षेपमे सागोपाग कहा है। पुस्तके लिख तो रखी है। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओके काम आयेगी, और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुँचा भी है, परन्तु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। ससारका नाटक मैं देख रहा हूँ। एक स्थानपर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूँ। असख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनो एक ही प्रवाहमे खिचते जा रहे है, यह देखकर ईश्वरकी लीलाका ही चिन्तन करे, दूसरा कुछ चिन्तन न करे, ऐसा लगता है।

यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता-प्रवचन' को सारा पढकर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है, शास्त्रीय नही। उसमे पुनरुक्ति भी है। गायक अवान्तर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद दोहराता रहता है, ऐसा उसमे किया गया है। मेरी तो कल्पनामे भी नही आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी-जैसा सहृदय और 'लॉगहैड' से ही 'शार्टहैड' लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता, तो जिसने कहा और जिन्होने सुना, उन्हीमे इसकी परिसमाप्ति हो गयी होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजी बजाजको इन प्रवचनोसे लाभ मिला। मैं समझता हूँ, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो सिर्फ इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वरकी इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए। (एक पत्र से)

—विनोबा

हैदराबाद (द०), १६-३-१९५१

विषय-क्रम

गीता-प्रवचन

प्रास्ताविक आख्यायिका : अर्जुनका विषाद | १

१. मध्ये-महाभारतम्

प्रिय भाइयो,

१ आजसे मै श्रीमद्भगवद्गीताके विपयमे कहनेवाला हूँ। गीताका और मेरा सवध तर्कसे परे है। मेरा शरीर माँके दूधपर जितना पला है, उससे कही अधिक मेरे हृदय और वुद्धिका पोपण गीताके दूधपर हुआ है। जहाँ हार्दिक सवध होता है, वहाँ तर्ककी गुञ्जाइश नही रहती। तर्कको काटकर श्रद्धा और प्रयोग, इन दो पखोसे ही मै गीता-गगनमे यथाशक्ति उडान भरता रहता हूँ। मै प्राय गीताके ही वातावरणमे रहता हूँ। गीता मेरा प्राण-तत्त्व है। जव मै गीताके सवधमे किसीसे वात करता हूँ, तब गीता-सागरपर तैरता हूँ और जव अकेला रहता हूँ, तव उस अमृत-सागरमे गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हूँ। इस गीतामाताका चरित्र मै हर रविवारको आपको सुनाऊँ, यह तय हुआ है।

२ गीताकी योजना महाभारतमे की गयी है। गीता महाभारतके मध्य-भागमे एक ऊँचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारतपर पड रहा है। एक ओर छह पर्व और दूसरी ओर वारह पर्व, इनके मध्य-भागमे, उसी तरह एक ओर सात अक्षौहिणी सेना और दूसरी ओर ग्यारह अक्षौहिणी, इनके भी मध्य-भागमे गीताका उपदेश दिया जा रहा है।

३ महाभारत और रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रन्थ है। उनमे वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमे एकरूप हो गये है। राम, सीता, धर्मराज, द्रौपदी, भीष्म, हनुमान् आदिके चरित्रोने सारे भारतीय जीवनको हजारो वर्षोसे मत्र-मुग्ध-सा कर रखा है। ससारके अन्यान्य महाकाव्योके पात्र इस तरह लोक-जीवनमे घुले-मिले नही दिखाई देते। इस दृष्टिसे महाभारत और रामायण निस्सदेह अद्भुत ग्रन्थ है। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है, तो महाभारत एक व्यापक

समाज-शास्त्र। व्यासदेवने एक लाख सहिता लिखकर असख्य चित्रो, चरित्रो और चारित्र्योका यथावत् चित्रण बडी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नही है, लेकिन उसी तरह केवल दोपपूर्ण भी इस ससारमे कोई नही है, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टतासे बता रहा है। एक ओर जहाँ भीष्म-युधिष्ठिर जैसोके दोष दिखाये है, तो दूसरी ओर कर्ण-दुर्योधनादिके भी गुणोपर प्रकाश डाला गया है। महाभारत बतलाता है कि मानव-जीवन सफेद और काले तन्तुओका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जगत्के—विराट् ससारके—छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते है। व्यासदेवके इस अत्यन्त अलिप्त और उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रन्थ मानो एक सोनेकी बड़ी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जाय।

४ व्यासदेवने इतना बडा महाभारत लिखा, परन्तु उन्हे अपनी ओरसे कुछ कहना था या नही ? क्या किसी जगह उन्होने अपना कोई खास सदेश भी दिया है ? किस स्थानपर व्यासदेवकी समाधि लगी है ? स्थान-स्थानपर अनेक तत्त्वज्ञान और उपदेशोके जगल-के-जगल महाभारतमे आये है, परन्तु इन सारे तत्त्वज्ञानोका, उपदेशोका और समूचे ग्रन्थका सारभूत रहस्य भी उन्होने कही लिखा है ? हाँ, लिखा है, समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्गीतामे रख दिया है। गीता व्यासदेवकी प्रधान सिखावन और उनके मननका सम्पूर्ण सग्रह है। इसीके आधारपर 'मै मुनियोमे व्यास हूँ' यह विभूति सार्थक सिद्ध होनेवाली है। गीताको प्राचीन कालसे 'उपनिषद्' की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिपदोकी भी उपनिषद् है, क्योकि समस्त उपनिषदोको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्ने अर्जुनके निमित्तसे ससारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्राय प्रत्येक विचार गीतामे आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिन्दू-धर्मका एक छोटा ही, परन्तु मुख्य ग्रन्थ है।

५ यह तो सभी जानते है कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान् सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' सज्ञा मिल गयी। भगवान् और भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गये कि लोग उन्हे भी 'कृष्ण' नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण—इस तरह इन तीनोमे मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया, मानो तीनोकी समाधि लग गयी। गीताके अध्येतामे ऐसी ही एकाग्रता चाहिए।

२. अर्जुनकी भूमिकाका सम्बन्ध

६ कुछ लोगोका खयाल है कि गीताका आरम्भ दूसरे अध्यायसे समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ग्यारहवे श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशका आरम्भ होता है, तो वहीसे आरम्भ क्यो न समझा जाय ? एक व्यक्तिने मुझसे कहा—"भगवान्ने अक्षरोमे अकारको ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् के आरम्भमे अनायास 'अ-कार' आ गया है। अत वहीसे आरम्भ मान लेना चाहिए।" इस दलीलको हम छोड दे तो भी इसमे शका नही है कि यहाँसे आरम्भ मानना अनेक दृष्टियोसे उचित ही है। फिर भी उससे पहलेके प्रास्ताविक भागका भी महत्त्व है ही। अर्जुन किस भूमिकापर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथा-भागके बिना अच्छी तरह समझमे नही आ सकता।

७ कुछ लोग कहते है कि अर्जुनका क्लैब्य दूर करके उसे युद्धमे प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गयी है। उनके मतमे गीता केवल कर्मयोग ही नही बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करनेपर इस कथनकी भूल हमे दीख जायगी। अठारह अक्षौहिणी सेना लडनेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान्ने अर्जुनको उस सेनाकी योग्यताका बनाया ? घबडाया तो अर्जुन था, न कि वह सेना। तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी ? यह बात कल्पनामे भी नही आ सकती। अर्जुन, जो लडाईसे परावृत्त हो रहा था, सो भयके कारण नही। सैकडो लडाइयोमे अपना जौहर दिखानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण और कर्णके दाँत खट्टे कर दिये थे। सदा विजय प्राप्त करनेवाला और सब नरोमे एक ही सच्चा नर, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीरवृत्ति उसके रोम-रोममे भरी थी। अर्जुनको उकसानेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए 'क्लैब्य' का आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया, परन्तु उनका वह तीर बेकार गया और फिर उन्हे दूसरे ही मुद्दोको लेकर ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी व्याख्यान देने पडे। तब यह निश्चित है कि महज क्लैब्य-निरसन जैसा सरल तात्पर्य गीताका नही है।

८ कुछ दूसरे लोग कहते है कि अर्जुनकी अहिसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्धमे प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गयी है। मेरी दृष्टिसे यह कथन भी ठीक नही है। यह देखनेके लिए पहले हमे अर्जुनकी भूमिका बारीकीसे समझनी चाहिए। इसके लिए पहले अध्यायसे, और दूसरे अध्यायमे पहुँची हुई उसकी खाडीसे, हमे बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन, जो समर-भूमिमे खडा हुआ, सो कृत-निश्चय होकर और कर्त्तव्य-भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमे थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टला नही था। कम-से-कम मॉगका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जसेकी मध्यस्थता, दोनो बाते बेकार हो चुकी थी। ऐसी स्थितिमे अनेक देशोके राजाओको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराकर वह रणागणमे खडा है और वीरवृत्तिके उत्साहके साथ श्रीकृष्णसे कहता है—"दोनो सेनाओके वीच मेरा रथ खड़ा कीजिये, जिससे मै एक वार उन लोगोके चेहरे तो देख लू, जो मुझसे लडनेके लिए तैयार होकर आये है।" कृष्ण ऐसा ही करते है। अर्जुन चारो ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखाई देता है ? दोनो ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारो, सगे-सबधियोका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि दादा, वाप, वेटे, पोते, आप्त-स्वजन-सवधियोकी चार पीढियाॅ मरने-मारनेके अन्तिम निश्चयसे वहाॅ एकत्र हुई है। यह बात नही कि इससे पहले उसे इन वातोकी कल्पना न हुई हो, परन्तु प्रत्यक्ष दर्शनका मनपर कुछ जुदा ही प्रभाव पडता है। उस सारे स्वजन-समूहको देखकर उसके हृदयमे एक उथल-पुथल मचती है। उसे वहुत वुरा लगता है। आजतक उसने अनेक युद्धोमे असख्य वीरोका सहार किया था। उस समय उसे वुरा नही लगा था, उसका गाडीव हाथसे छूट नही पडा था, शरीरमे कप नही होने लगा था, उसकी ऑखे गीली नही हो गयी थी। तो फिर इसी समय ऐसा क्यो हुआ ? क्या अशोककी तरह उसके मनमे अहिंसा-वृत्तिका उदय हो गया था ? नही, यह तो केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, वधु और आप्त सामने न होते, तो उसने शत्रुओके मुण्ड गेदकी तरह उडा दिये होते। परन्तु इस आसक्तिजनित मोहने उसकी कर्तव्यनिष्ठाको ‍ लिया और तब उसे तत्त्वज्ञान स्मरण पडा। कर्तव्यनिष्ठ मनुष्यके मोह-‍ होनेपर भी नग्न—खुल्लमखुल्ला—कर्तव्यच्युति उसे सहन नही होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुनका हुआ। अव वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमे एक पाप है। युद्धसे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पडेगा, समाजपर तरह-तरहके सकट आयेगे, आदि अनेक दलीले देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा।

९ यहाँ मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकड़ो अपराधियोको फॉसीकी सजा दी थी। परन्तु एक दिन खुद उसीका लडका खूनके जुर्ममे उसके सामने पेश किया गया। वेटेपर खूनका

जुर्म सावित हुआ और उसे फॉसीकी सजा देनेकी नौवत न्यायाधीशपर आ गयी। तव वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा—"फॉसीकी सजा वडी अमानुपी है। ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नही देता। इससे अपराधी-के सुधरनेकी आशा नष्ट हो जाती है। खून करनेवालेने भावनाके आवेश-मे, जोश और उत्तेजनामे खून कर डाला। परन्तु उसकी ऑखोपरसे जनून उतर जानेपर उस व्यक्तिको गम्भीरतापूर्वक फॉसीके तख्तेपर चढाकर मार डालना समाजको मनुष्यताके लिए वडी लज्जाकी वात है, वडा कलक है" आदि दलीले वह देने लगा। यदि अपना लडका सामने न आया होता, तो जज साहव वेखटके जिदगीभर फॉसीकी सजा देते रहते। किन्तु वे अपने लडके-के ममत्वके कारण ऐसी वाते करने लगे। उनकी वह आवाज आतरिक नही थी। वह आसक्तिजनित थी। 'यह मेरा लडका है' इस ममत्वमेसे वह वाङ्मय निकला था।

१० अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई। उससे जो दलीले दी थी, वे गलत नही थी। पिछले महायुद्धमे सारे ससारने ठीक इन्ही परि-णामोको प्रत्यक्ष देखा है। परन्तु सोचनेकी वात इतनी ही है कि वह अर्जुनका तत्त्वज्ञान (दर्शन) नही, किन्तु कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होने उसपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिसावादी हो गया होता, तो उसे किसीने कितना ही अवातर ज्ञानविज्ञान बताया होता, तो भी असली बातका जवाव मिले विना उसका समाधान न हुआ होता। परन्तु सारी गीतामे इस मुद्देका कही भी जवाव नही दिया गया, फिर भी अर्जुनको समाधान हुआ है। यह सव कहनेका अर्थ इतना ही है कि अर्जुनकी अहिसा-वृत्ति नही थी, वह युद्धप्रवृत्त ही था, युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूपसे निश्चित कर्तव्य था। उसे वह मोहके वश होकर टालना चाहता था और गीताका मुख्यत इस मोहपर ही गदा-प्रहार है।

३. गीताका प्रयोजन स्वधर्म-विरोधी मोहका निरसन

११. अर्जुन अहिसाकी ही नही, सन्यासकी भी भाषा बोलने लगा। वह कहता है—"इस रक्त-लाछित क्षात्र-धर्मसे सन्यास ही अच्छा है।" परन्तु क्या वह अर्जुनका स्वधर्म था? उसकी वह वृत्ति थी क्या? अर्जुन सन्यासीका वेष तो वडे मजेमे वना सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे ला सकता था? सन्यासके नामपर यदि वह जगलमे जाकर रहता, तो वहॉ हिरन मारना शुरू कर देता। अत भगवान्ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तू यह कह रहा है कि मै लडूंगा

नही, वह तेरा भ्रम है। आजतक जो तेरा स्वभाव बना हुआ है, वह तुझे लडाये बिना रहेगा नही।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परन्तु स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमे रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिए, क्योकि उसमे रहनेसे ही विकास हो सकता है। इसमे अभिमानका कोई प्रश्न नही है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नही है कि जिसे बडा समझकर ग्रहण करे और छोटा समझकर छोड दे। वस्तुत: वह न बडा होता है, न छोटा। वह हमारे नापका होता है। **श्रेयान् स्वधर्मो विगुण**—इस गीता-वचनमे 'धर्म' शब्दका अर्थ हिन्दू-धर्म, इसलाम-धर्म, ईसाई-धर्म आदि जैसा नही है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहाँ जो दो सौ व्यक्ति मौजूद है, उनके दो सौ धर्म है। मेरा भी धर्म जो दस वर्ष पहले था, वह आज नही है। आजका धर्म दस वर्ष बाद टिकेगा नही। चिंतन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तियाँ बदलती जाती है, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता और नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकडकर कुछ भी नही करना है।

१२ दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमे मेरा कल्याण नही है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मै बढता रहता हूँ। सूर्य मेरे लिए वदनीय भी है। परन्तु इसलिए यदि मै पृथ्वीपर रहना छोडकर उसके पास जाना चाहूँगा, तो जलकर खाक हो जाऊँगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिलकुल तुच्छ हो, स्वयप्रकाशी न हो, तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करनेकी सामर्थ्य मुझमे न आ जायगी, तबतक सूर्यसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोसे यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमे रहने चलो', तो क्या मछलियाँ उसे मजूर करेगी? मछलियाँ तो पानीमे ही जी सकती है, दूधमे मर जायँगी।

१३ दूसरेका धर्म सरल मालूम हो, तो भी उसे स्वीकार नही करना चाहिए। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमे बाल-बच्चोकी ठीक सँभाल नही की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ सन्यास ले ले, तो वह ढोग होगा और भारी भी पडेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएँ जोर पकडेगी। ससारका बोझ उठाया नही जाता, इसलिए जगलमे जानेवाला पहले वहाँ छोटी-सी कुटिया बनायेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड लगायेगा। ऐसा करते-करते वहाँ भी उसपर सवाया ससार खडा करनेकी नौबत आ जायगी। यदि सचमुच मनमे वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर सन्यास भी

कौन कठिन बात है ? सन्यासको आसान बतानेवाला स्मृति-वचन तो है ही। परन्तु मुख्य बात वृत्तिकी है। जिसकी जो सच्ची वृत्ति होगी, उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिनका यह प्रश्न नही है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणति सच्ची होनी चाहिए।

१४ परन्तु कुछ भावुक व्यक्ति पूछते है—"यदि युद्ध-धर्मसे सन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है, तो फिर भगवान्ने अर्जुनको सच्चा सन्यासी ही क्यो न बनाया ? उनके लिए क्या यह असम्भव था ?" उनके लिए असभव तो कुछ भी नही था। परन्तु उसमे अर्जुनका फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता ? परमेश्वरने स्वतन्त्रता दे रखी है। अत हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे, इसीमे मजा है। छोटे बच्चोको स्वय चित्र बनानेमे आनन्द आता है। उन्हे यह पसन्द नही आता कि कोई उनसे हाथ पकडकर चित्र बनवाये। शिक्षक यदि बच्चोके सवाल झट हल कर दिया करे, तो फिर बच्चोकी बुद्धि बढेगी कैसे ? अत माँ-बाप और गुरुका काम सिर्फ सुझाव देना है। परमेश्वर अन्दरसे हमे सुझाता रहता है। इसमे अधिक वह कुछ नही करता। कुम्हारकी तरह भगवान् ठोक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरएकका मटका तैयार करे, तो उसमे खूबी ही क्या ? हम मिट्टीकी हँडिया तो है नही, हम तो चिन्मय है।

१५ इस सारे विवेचनसे एक बात आपका समझमे आ गयी होगी कि गीताका जन्म, स्वधर्ममे बाधक जो मोह है, उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-समूढ हो गया था। स्वधमके विषयमे उसके मनमे मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्णके पहले उलहनेके बाद यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवान्ने पूछा है—"अर्जुन, तुम्हारा मोह गया न ?" और अर्जुन जवाब देता है—"हाँ, भगवन्, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका भान हो गया।" इस तरह यदि गीताके उपक्रम और उपसहारको मिलाकर देखे, तो मोह-निरसन ही उसका तात्पर्य निकलता है। गीता ही नही, सारे महाभारतका यही उद्देश्य है। व्यासजीने महाभारतके प्रारभमे ही कहा है कि लोकहृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मै यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हूँ।

४. ऋजु-बुद्धिका अधिकारी

१६ आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आयी है, इसलिए तो हम इसका आभार मानेगे ही, परन्तु इसका और

भी एक उपकार है। अर्जुनकी इस भूमिकामे उसके मनकी अत्यन्त ऋजुताका पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु' अथवा 'सरल स्वभाववाला' है। उसके मनमे जो कुछ भी विकार या विचार आये, वे सब उसने खुले मनसे भगवान्के सामने रख दिये। मनमे कुछ भी छिपा नही रखा और वह अन्तमे श्रीकृष्णकी शरण गया। सच पूछिये तो वह पहलेसे ही कृष्णकी शरणमे था। कृष्णको सारथी बनाकर जबसे उसने अपने घोड़ोकी लगाम उनके हाथोमे पकड़ायी, तभीसे उसने अपनी मनोवृत्तियोकी लगाम भी उनके हाथोमे सौप देनेकी तैयारी कर ली थी। आइये, हम भी ऐसा ही करे। 'अर्जुनके पास तो कृष्ण थे, हमे कृष्ण कहाँ मिलेगे ?' ऐसा हम न कहे। 'कृष्ण' नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक धारणामे हम न पडे। अतर्यामीके रूपमे कृष्ण प्रत्येकके हृदयमे विराजमान है। हमारे निकटसे निकट वही है। तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उसके सामने रख दें और उससे कहे—"भगवन्, मै तेरी शरणमे हूँ, तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू दिखायेगा, मै उसीपर चलूँगा।" यदि हम ऐसा करेंगे, तो वह पार्थ-सारथी हमारा भी सारथ्य करेगा, अपने श्रीमुखसे वह हमे गीता सुनायेगा और हमे विजयलाभ करा देगा।

रविवार, २१-२-'३२

सब उपदेश थोड़ेमें : आत्मज्ञान और समत्वबुद्धि

५. गीताकी परिभाषा

भाइयो,

१ पिछली बार हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरिशरणता होती है, तो फिर विषाद भी योग बनता है। इसीको 'हृदय-मथन' कहते है। गीताको इस भूमिकाको मैने उसके सकलनकारके अनुसार अर्जुन-विषाद-योग जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए 'विषाद-योग' जैसा सामान्य नाम दिया है, क्योकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्त-मात्र है। यह न समझना चाहिए कि पढरपुर (महाराष्ट्र) के पाडुरगका अवतार सिर्फ पुडलीकके ही लिए हुआ, क्योकि हम देखते है कि पुडलीकके

निमित्तसे वह हम जड जीवोके उद्धारके लिए आज हजारो वर्षोसे खडा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यो न हो, हम सबके लिए है। अतः गीताके पहले अध्यायके लिए 'विपाद-याग' जैसा सामान्य नाम ही शोभा देता है। यह गीतारूपी वृक्ष यहाँसे वढते-वढते अन्तिम अध्यायमे 'प्रसाद-योग' रूपी फलको प्राप्त होनेवाला है। ईश्वरकी इच्छा होगी, तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमे वहाँतक पहुँच जायेगे।

२ दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरम्भ होता है और शुरूमे ही भगवान् जीवनके महासिद्धात वता रहे है। इसमे उनका आशय यह है कि यदि शुरूमे ही जीवनके वे मुख्य तत्त्व गले उतर जायँ, जिनके आधारपर जीवनकी इमारत खडी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायगा। दूसरे अध्यायमे आनेवाले 'साख्य-वुद्धि' गव्दका अर्थ मै करता हूँ—जीवनके मूलभूत सिद्धात। इन मूल सिद्धातोको अव हमे देख जाना है। परन्तु इसके पहले यदि हम इस 'साख्य' गव्दके प्रसगसे गीताके पारिभाषिक शव्दोके अर्थका थोडा स्पष्टीकरण कर ले, तो अच्छा होगा।

गीता पुराने शास्त्रीय गव्दोको नये अर्थोमे प्रयुक्त करनेकी आदी है। पुराने गव्दोपर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रातिकी अहिसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रियामे सिद्धहस्त है। इससे गीताके शव्दोको व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा वनी रही एव अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार अनेक अथ ले सके। अपनी-अपनी भूमिका-परसे ये सव अर्थ सही हो सकते है, और उनके विरोधकी आवश्यकता न पडने देकर हम स्वतन्त्र अर्थ भी कर सकते है, ऐसी मेरी दृष्टि है।

३ इस सिलसिलेमे उपनिपद्मे एक सुन्दर कथा है। एक बार देव, दानव और मानव, तीनो प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुँचे। प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर वताया—'द'। देवोने कहा—"हम देवता लोग कामी है, हमे विषय-भोगोकी चाट लग गयी है। अत हमे ब्रह्माने 'द' अक्षरके द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है।" दानवोने कहा—"हम दानव वडे क्रोधी और दयाहीन हो गये है। हमे 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षा दी है कि 'दया' करो।" मानवोने कहा—"हम मानव वडे लोभी और धन-सचयके पीछे पडे है, हमे 'द' के द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है।" प्रजापतिने सभीके अर्थोको ठीक माना, क्योकि सबने उनको अपने अनुभवोसे प्राप्त किया था। गीताकी परिभापाका अर्थ करते समय उपनिषद्की यह कथा हमे ध्यानमे रखनी चाहिए।

६. जीवन-सिद्धान्त · (१) देहसे स्वधर्माचरण

४ दूसरे अध्यायमे जीवनके ये तीन महासिद्धात प्रस्तुत किये गये हैं–(१) आत्माकी अमरता और अखण्डता, (२) देहकी क्षुद्रता और (३) स्वधर्मकी अवाध्यता। इनमे स्वधर्मका सिद्धांत कर्तव्यरूप है और शेप दो ज्ञातव्य है। पिछली वार मैने स्वधर्मके सवधमे कुछ कहा ही था। यह स्वधर्म हमे निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कही खोजने नही जाना पडता। ऐसी वात नही है कि हम आकाशसे गिरे और धरतीपर सँभले। हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था, हमारे माँ-वाप थे, अडोसी-पडोसी थे। ऐसे इस प्रवाहमे हमारा जन्म होता है। अत. जिन माँ-वापकी कोखसे मै जनमा हूँ, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मत ही प्राप्त हो गया है और जिस समाजमे मैने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जनमता है, वल्कि यह भी कह सकते है कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है, क्योकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते है और कहते है कि जैसे पत्नीका सवध अविच्छेद्य माना गया है, वैसे ही यह स्वधर्म-सवध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण मालूम होती है। मै स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हूँ। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममे करना वाकी नही रहा। वह पहले ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यो न हो, अव टाली नही जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्मे हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नही है। स्वधर्मको टालनेकी इच्छा करना मानो 'स्व' को ही टालने जैसा आत्मघातकी-पन है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे वढ सकते है। अत यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नही छोड़ना चाहिए–यह जीवनका एक मूलभूत सिद्धात स्थिर होता है।

५ स्वधर्म हमे इतना सहज-प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए। परन्तु अनेक प्रकारके मोहोके कारण ऐसा नही होता, अथवा वडी कठिनाईसे होता है और हुआ भी, तो उसमे विप–अनेक प्रकारके दोप–मिल जाते है। स्वधर्मके मार्गमे काँटे विखेरनेवाले मोहोके वाहरी रूपोकी तो कोई गिनती ही नही है। फिर भी जव हम उनकी छानवीन करते है, तो उन सवकी तहमे एक मुख्य वात दिखाई देती है–सकुचित और छिछली देह-वुद्धि। मै और मेरे शरीरसे सम्वन्ध रखनेवाले व्यक्ति, वस, इतनी ही मेरी व्याप्ति–

फैलाव–है। इस दायरेके वाहर जो हैं, वे सव मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन है। भेदकी ऐसी दीवार यह देह-वुद्धि खडी कर देती है। और तारीफ यह कि जिन्हे मैने 'मै' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देह-वुद्धिके इस दुहरे पेचमे पडकर हम तरह-तरहके छोटे डवरे वनाने लगते है। प्राय सव लोग इसी कार्यक्रममे लगे रहते है। इनमे किसीका डवरा वडा, तो किसीका छोटा, परन्तु है आखिर वह डवरा ही। इस शरीरके चमडेके जितनी ही उसकी गहराई! कोई कुटुम्वाभिमानका डवरा वनाकर रहता है, तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामका एक डवरा, हिंदू-मुसलमान नामका दूसरा। ऐसे एक-दो नही, अनेक डवरे वने हुए है। जिधर देखिये, उधर ये डवरे-ही-डवरे! हमारी इस जेलमे भी तो राजनीनिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरहके डवरे वने ही है, मानो इसके विना हम जी ही नही सकते। परन्तु नतीजा क्या होता है? यही कि हीन विचारोके कीडोकी वाढ और स्वधर्मरूपी आरोग्यका नाश।

७. जीवन-सिद्धान्त : (२) देहातीत आत्माका भान

६ ऐसी दशामे स्वधर्मनिष्ठा अकेली पर्याप्त नही होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धान्त जागृत रखने पडते है। एक तो यह कि मै यह मरियल देह नही हूँ, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपडी है। और दूसरा यह कि मै कभी न मरने-वाला अखड और व्यापक आत्मा हूँ। इन दोनोको मिलाकर एक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पडता है कि गीता उसीका पहले आह्वान करती है और स्वधर्मका अवतार वादमे करती है। कुछ लोग पूछते है कि तत्त्वज्ञानसवधी ये श्लोक प्रारम्भमे ही क्यो? परतु मुझे लगता है कि गीतामे यदि कोई श्लोक ऐसे है, जिनकी जगह विलकुल नही वदली जा सकती, तो वे ये ही श्लोक है।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मनमे अकित हो जाय, तो फिर स्वधर्म विलकुल भारी नही पडेगा। यही नही, किन्तु स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पडेगा। आत्मतत्त्वकी अखडता और देहकी क्षुद्रता, इन वातोको समझ लेना कोई कठिन नही है, क्योकि ये दोनो सत्य वस्तुएँ है। परन्तु हमे उनका विचार करना होगा। वार-वार मनमे उनका मथन करना होगा। इस चामके महत्त्वको घटाकर हमे आत्माको महत्त्व देना सीखना होगा।

७ यह देह तो पल-पल बदलती रहती है। बचपन, जवानी और बुढापा—इस चक्रका अनुभव किसे नही है? आधुनिक वैज्ञानिकोका तो कहना है कि सात सालमे शरीर बिलकुल बदल जाता है और खूनकी पुरानी एक बूंद भी शेष नही रहती। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमे पुराना शरीर मर जाता है और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मीयाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे। बहुत वर्षकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी माँसे मिला, तो माँ उसे पहचान न सकी, ऐसे किस्से हम सुनते है। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मरणशील देह ही तेरा रूप है? रात-दिन जहाँ मल-मूत्रकी नालियाँ बहती है और तुझ जैसा जबर्दस्त धोनेवाला मिल जानेपर भी जिसका अस्वच्छताका व्रत छूटता ही नही, क्या वही तू है? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला, वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देनेवाला, वह साढे तीन हाथकी जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी, वह नित्य परिवर्तन-शील, तू उसके परिवर्तन देखनेवाला, वह मरनेवाला और तू उसके मरणका व्यवस्थापक, तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योकर बनता है? यह क्या कहता है कि इस देहसे जितने संबध रखते है, वे ही मेरे है? और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्या करता है? भगवान् पूछते है कि "अरे, देहका नाश क्या शोक करने जैसी बात है?"

८ देह तो कपडेकी तरह है। पुराने फट जाते है, इसीसे तो नये धारण किये जा सकते है। यदि कोई एक शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता, तो आत्माकी बुरी गति होती। सारा विकास रुक जाता, आनन्द हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मंद पड जाती। अत देहका नाश शोचनीय नही। हाँ, यदि आत्माका नाश होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह तो मानो एक अखंड बहता हुआ झरना है। उसपर अनेक देह आते और जाते है। इसलिए देहके नाते-रिश्तोके चक्करमे पडकर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये है, ऐसे भेद या टुकडे करना सर्वथा अनुचित है। यह सारा ब्रह्मांड मानो एक सुन्दर बुनी हुई चादर है। कोई छोटा बच्चा जैसे हाथमे कैंची लेकर चादरके टुकड़े काट देता है, वैसे ही इस देहके बराबर कैंची लेकर उस विश्वात्माके टुकडे करना कितना लडकपन और कितनी हिंसा है।

सचमुच, यह बड़े दु खकी बात है कि जिस भारत-भूमिमे ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमे इन छोटे-बडे गुटो, फिरको और जातियोकी चारो ओर भरमार दिखाई देती है और मरनेका तो इतना भय हमारे मनमे घर कर गया है कि

वैसा शायद ही कही दूसरी जगह हो। इसमे कोई शक नही कि दीर्घकालीन परतत्रताका यह परिणाम है परतु यह वात भूल जानेसे भी काम नही चलेगा कि वह इस परतन्त्रताका एक कारण भी है।

९ 'मरण' शब्द भी हमे नही सुहाता। मरणका नाम लेना ही हमे अमगल मालूम होता है। ज्ञानदेवको वडे दु खके साथ लिखना पडा है—

अगा मर हा वोल न साहती।
आणि मेलिया तरी रडती॥

जव कोई मर जाता है, तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते है। मानो वह हमारा एक कर्तव्य ही हो। किरायेसे रोनेवाले वुलानेतक वात जा पहुँची है। मृत्यु निकट आ जानेपर भी हम रोगीको नही वताते। यदि डाक्टरने कह दिया हो कि यह नही वचेगा, तो भी रोगीको भ्रममे रखेगे। खुद डॉक्टर भी साफ-साफ नही कहेगा, आखिरी दमतक गलेमे दवाकी शीशियाँ उँडेलता रहेगा। इसके वजाय यदि सत्य वात वताकर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरणकी ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो! किन्तु उन्हे डर यह लगता है कि कही इस धक्केसे यह मटका पहले ही न फूट जाय। परन्तु भला क्या निश्चित समयसे पहले यह मटका फूटनेवाला है? और फिर जो मटका दो घटे वाद फूटनेवाला है, वह थोडा पहले ही फूट गया, तो विगडा क्या? इसके मानी यह नही कि हम कठोर-हृदय और प्रेम-शून्य हो जायँ। किन्तु देहासक्ति प्रेम नही है। उलटे, देहासक्तिको दूर किये विना सच्चे प्रेमका उदय ही नही होता।

जव देहासक्ति दूर होगी, तव यह मालूम होगा कि देह तो सेवाका एक साधन है और तव देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परन्तु आज तो हम देहकी पूजाको ही अपना साध्य मान वैठे है। हम यह वात भी भूल गये है कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। स्वधर्माचरणके लिए देहको सँभालना चाहिए। उसे खिलाना-पिलाना चाहिए, केवल जीभके चोचले पूरे करनेके लिए उसकी जरूरत नही। चम्मचसे चाहे हलुआ परोसो, चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दु ख नही। ऐसी ही स्थिति जीभकी होनी चाहिए—उसे रस-ज्ञान तो हो, पर सुख-दु ख न हो। शरीरका भाडा शरीरको चुका दिया, वस खतम। चरखेसे सूत कात लेना है, इसलिए उसमे तेल देनेकी आवश्यकता है। इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमे कोयला डालना जरूरी है। इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करे, तो मूलत क्षुद्र होनेपर भी उसका मूल्य बढ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

१० लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममे न लाकर उसीमे डूब जाते है और आत्मसकोच कर लेते है। इससे यह देह, जो पहलेसे ही नगण्य है, और भी अधिक क्षुद्र वन जाती है। इसलिए सतजन जोर देकर कहते है:

देह आणि देहसबधें निंदावीं। इतरें वंदावीं श्वान-सूकरें।

'देह और देह-सवध निंद्य है, श्वान, सूकर आदि भी वन्द्य है।' अरे, तू इस देहकी और देहसे जिनका सबध हुआ है, उन्हीकी दिन-रात पूजा मत कर। दूसरोको भी पहचानना सीख। सत इस प्रकार हमे व्यापक होनेकी सीख देते है। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रोके अतिरिक्त दूसरोके पास अपनी आत्मा जरा ले जाते है क्या ?

जीव जीवात घालावा, आत्मा आत्म्यात मिसळावा।

'जीवमे जीव समाये। आत्मामे आत्मा मिलाये'—ऐसा हम करते है क्या ? अपने आत्म-हसको इस पिंजरेके बाहरकी हवा खिलाते है क्या ?—क्या कभी तेरे मनमे ऐसा आता है कि 'अपने माने हुए दायरेको पार कर कल मैने नये दस मित्र बनाये ? आज पद्रह हुए ? कल पचास होगे ? और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मै विश्वका, इस प्रकार अनुभव करने लगूँगा ?' हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोको पत्र लिखते है, इसमे क्या विशेषता है ? किन्तु जेलसे छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनीतिक कैदी नही, चोर कैदीको पत्र लिखेगे क्या ?

११. हमारी आत्मा व्यापक होनेके लिए छटपटाती रहती है। वह चाहती है कि सारे जगत्को गले लगा ले। परन्तु हम उसे बन्द कर देते है। आत्माको हमने कैद कर रखा है। उसकी स्मृति भी हमे नही होती। सबेरेसे लेकर शाम-तक हम देहकी ही सेवामे लगे रहते है। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा हुआ या कितना दुबला हो गया, मानो ससारमे कोई दूसरा आनन्द ही नही। भोग और स्वादका आनन्द तो पशु भी लेते है। अव त्याग और स्वाद मिटानेका आनन्द भी देखेगा या नही ? स्वय भूखसे पीडित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्यको देनेमे क्या आनन्द है, इसका अनुभव कर। इसके स्वादको चख। माँ जव बच्चेके लिए कष्ट उठाती है, तव उसे इस स्वादका थोडा-सा मजा मिलता है। मनुष्य 'अपना' कहकर जो सकुचित दायरा वनाता रहता है, उसमे भी उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्म-विकासका स्वाद चखे, क्योकि उससे देहवद्ध आत्मा कुछ देरके लिए थोडी उससे वाहर निकलती है। परन्तु यह वाहर आना किस

प्रकारका है ? जिस प्रकार कि जेलकी कोठरीके कैदीका कामके वहाने जेलके अहातेमे आना हो। परतु आत्माका काम इतनेसे नही चलता। आत्माको तो मुक्तानद चाहिए।

१२. साराश, (१) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधमके टेढे रास्तेको छोडकर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकडे। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोडे। (२) देह क्षणभगुर है, यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जव आवश्यकता हो, तो उसे स्वधर्मके लिए त्यागनेमे भी सकोच न करे। (३) आत्माकी अखडता और व्यापकताका भान सतत जागृत रखे और चित्तसे 'स्व'-'पर' के भेदको निकाल डाले। जीवनके ये मुख्य सिद्धात भगवान् वताते है।

नरदेहाचेनि साधनें, सच्चिदानंदपदवी घेणें।

जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्सन्देह एक दिन नरदेहके द्वारा सच्चिदानन्द-पद लेनेके अनुभवको प्राप्त करेगा।

८. दोनोका मेल साधनेकी युक्ति : फलत्याग

१३ भगवान्ने जीवनके सिद्धात तो वताये, किन्तु केवल सिद्धात बता देनेसे काम पूरा नही होता। गीतामे वर्णित ये सिद्धात तो उपनिपदो और स्मृतियोमे पहलेसे ही थे। गीताने उन्हीको फिरसे उपस्थित किया, तो इसमे गीताकी अपूर्वता नही है। उसकी अपूर्वता तो यह वतलानेमे है कि इन सिद्धातोको आचरणमे कैसे लाये। इस महाप्रश्नको हल करनेमे ही गीताकी कुशलता है।

जीवनके सिद्धातोको व्यवहारमे लानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको 'योग' कहते है। 'साख्य' का अर्थ है—'सिद्धात' अथवा 'शास्त्र' और 'योग' का अर्थ है 'कला'। ज्ञानदेव मानो अपनी साक्षी देते है—

योगिया साधली जीवन-कला।

'योगियोने जीवन-कला साध ली है।' गीता साख्य और योग, शास्त्र और कला, दोनोसे परिपूर्ण है। शास्त्र और कला, दोनोके योगसे जीवन-सौदर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। सगीत-शास्त्रको समझ तो लिया, किन्तु यदि कठसे सगीत प्रकट करनेकी कला न सधी, तो नाद-ब्रह्मकी सजा-वट नही होगी। यही कारण है कि भगवान्ने सिद्धातोके साथ-ही-साथ उनके विनियोग जाननेकी कला भी वतायी है। तो वह भला कौन-सी कला है ? देह-

को तुच्छ मानकर, आत्माकी अमरता और अखडतापर दृष्टि रखकर, स्वधर्म-का आचरण करनेकी वह कला कौन-सी है ?

जो कर्म करते है, उनकी वृत्ति दोहरी होती है। एक यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेगे। यह हमारा अधिकार है। और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमे फल चखनेको न मिले, तो हम कर्म ही नही करेगे। गीता इन दोनोके अतिरिक्त एक तीसरी ही वृत्ति बताती है। वह कहती है—"कर्म तो अवश्य करो, पर फलमे अपना अधिकार मत मानो।" जो कर्म करता है, उसे फलका अधिकार अवश्य है। परन्तु तुम उस अधिकारको स्वेच्छासे छोड दो। रजोगुण कहता है—"लूँगा तो फलके सहित ही लूगा।" और तमोगुण कहता है—"छोडूँगा तो कर्म-समेत ही छोडूँगा।" ये दोनो एक-दूसरेके भाई ही है। अत तुम इन दोनोसे ऊपर उठकर शुद्ध सत्त्वगुणी बनो अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड दो और फलको छोडकर कर्म करो। पहले और पीछे, कही भी फलकी आशा मत रखो।

१४ 'फलकी आशा न रखो'—ऐसा कहते हुए गीता यह भी जताती है कि कर्म उत्कृष्ट होना चाहिए। सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए। यह अपेक्षा उचित ही है, क्योकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फल-सबधी स्वप्न-चिंतनमे उसका थोडा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगी। परन्तु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममे ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नही, हवाको विश्राम नही, सूर्य सदैव जलता ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम कर्ता सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। अब यदि ऐसे निरन्तर कर्मरत पुरुष-का कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा ? फिर चित्तकी समता एक बड़ा ही उत्तम गुण है और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही है। किसी बिलकुल बाहरी कारीगरीके काममे हस्तकौशलके साथ यदि चित्तके समत्वका योग हो, तो जाहिर है कि वह काम और भी अधिक सुन्दर बन जायगा। इसके अति-रिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमे जो अतर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल'—इस दृष्टिके कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका थोडा भी ध्यान हट गया, तो उसमे उसे नैतिक दोष नही मालूम होता। बहुत हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पडता है। परन्तु निष्काम पुरुष-की तो अपने कर्मके विषयमे नैतिक कर्तव्य-बुद्धि रहती है। अत वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममे थोडी-सी भी कमी न रह

जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोप होगा। किसी भी तरह देखिये, फल-त्याग अत्यत कुशल एव यशस्वी तत्त्व सिद्ध होता है। अत फल-त्यागको 'योग' अथवा 'जीवनकी कला' कहना चाहिए।

१५ यदि निष्काम कर्मकी वात छोड दे, तो भी प्रत्यक्ष कर्ममे जो आनन्द है, वह उसके फलमे नही है। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है, वह आनन्दका एक स्रोत ही है। चित्रकारसे कहिये—"चित्र मत वनाओ, इसके लिए तुम चाहे जितने पैसे ले लो", तो वह नही मानेगा। किसानसे कहिये—"खेतपर मत जाओ, गाये मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, उतना अनाज तुम्हे दे देंगे।" यदि वह सच्चा किसान होगा तो वह यह सौदा पसद न करेगा। किसान प्रातकाल खेतपर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते है। पक्षी उसके लिए गान गाते है। गाय-वैल उसके आसपास घिरे रहते है। वह प्रेमसे उन्हे सहलाता है। जो पेड-पौधे लगाये है, उनको भर-नजर देखता है। इन सव कामोमे एक सात्त्विक आनन्द है। यह आनन्द ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलनामे उसका वाह्य फल विलकुल ही गौण है।

गीता जव मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीवसे कर्ममे उसकी तन्मयता सौगुनी वढा देती है। फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्मगत तन्मयता समाधिकी कोटिकी होती है। इसीलिए उसका आनद औरोसे सौगुना अधिक होता है। इस तरह देखे तो यह वात तुरन्त समझमे आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वत ही एक महान् फल है। ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है—"वृक्षमे फल लगते है, पर फलमे अव और क्या फल लगेगे ?" इस देहरूपी वृक्षमे निष्काम स्वधर्माचरण जैसा सुन्दर फल लग चुकनेपर अव अन्य किसी फलकी ओर क्यो अपेक्षा रखे ? किसान खेतमे गेहूँ वोये और गेहूँ वेचकर ज्वारकी रोटी क्यो खाये ? सुस्वादु केले लगाये और उन्हे वेचकर मिर्च क्यो खाये ? अरे भाई, केले ही खाओ न ! पर लोकमतको यह स्वीकार नही। केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्चपर ही टूटते है। गीता कहती है—"तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्मको ही पियो और कर्मको ही पचाओ।" कर्म करनेमे ही सव कुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनन्दके लिए खेलता है। इससे उसे व्यायामका फल सहज ही मिल जाता है। परन्तु उस फलकी ओर उसका ध्यान नही रहता। उसका सारा आनन्द उस खेलमे ही रहता है।

९. फल-त्यागके दो उदाहरण

१६ संतजनोने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है। तुकाराम-के भक्ति-भावको देखकर शिवाजी महाराजके मनमे उनके प्रति बहुत आदर होता था। एक बार उन्होने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया। परतु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दु ख हुआ। उन्होने अपने मनमे सोचा—"यह है मेरी भक्तिका फल ? क्या इसीके लिए मै भक्ति करता हूँ ?" उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो भगवान् मान-सन्मानका यह फल उनके हाथमे थमाकर उन्हे अपनेसे दूर हटाना चाहता है। उन्होने कहा—

> जाणूनि अतर। टाळिशील करकर।
> तुज लागली हे खोडी। पाडुरगा बहु कुडी॥

[मेरे अन्तस्तलको जानते हुए तुम मेरी झझट टालना चाहते हो ? हे पाडुरग ! तुम्हारी यह टेव बहुत बुरी है।]

"भगवन्, तुम्हारी यह टेव अच्छी नही। तुम मुझे ये घुँघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमे सोचते होगे कि इस आफतको निकाल ही दूँ न ! परन्तु मै भी कच्ची गोलियाँ नही खेला हूँ। मै तुम्हारे पाँव पकडकर बैठ जाऊँगा।" भक्ति ही भक्तका स्वधर्म है और भक्तिमे दूसरे-तीसरे फलोकी शाखाएँ न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।

१७ पुण्डलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने माँ-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर पाडुरग उसकी भेटके लिए दौड़े आये। परन्तु पुण्डलीकने पाडुरग-के चक्करमे पडकर अपने उस सेवा-कार्यको छोडनेसे इनकार कर दिया। अपने माँ-बापकी सेवा उसके लिए सच्ची ईश्वर-भक्ति थी। कोई लड़का यदि दूसरो-को लूट-खसोटकर अपने माँ-बापको सुख पहुँचाता हो अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता-हो तो • दोनोकी वह भक्ति नही कहलायेगी। वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्तिमे फँसा नही। उसने सोचा कि परमात्मा जिस रूपको धारण कर मेरे सामने खडा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखाई देनेसे पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी ? वह भगवान्से बोला—

"भगवन्, आप स्वय मुझे दर्शन देनेके लिए आये है, यह मै जानता हूँ, पर मै 'भी'-सिद्धातको माननेवाला हूँ। आप ही अकेले भगवान् है, ऐसा मै नही

मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् है और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामे लगे रहनेके कारण मै आपकी ओर ध्यान नही दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिये।" इतना कहकर उसने भगवान्के खडे रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वय उसी सेवा-कार्यमे निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसगको लेकर वडे कुतूहलसे विनोदपूर्वक कहते है—

का रे प्रेमे मातलासी। उभें केलें विठ्ठलासी।
ऐसा कैसा रे तू धीट। मागें भिरकाविली वीट॥

'तू कैसा पागल प्रेमी है कि तूने विट्ठलको खडा रखा? तू कैसा ढीठ है कि तूने विट्ठलके लिए ईंट सरका दी?'

१८ पुण्डलीकने जो यह 'भी'-सिद्धान्तका उपयोग किया, वह फलत्यागकी युक्तिका एक अग है। फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गभीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है। इस कारण वह विविध तत्त्वज्ञानके जजालमे नही पडता और न अपना सिद्धात छोडता है। नान्यदस्तीति वादिन—'यही है, दूसरा विलकुल नही', ऐसे विवादमे वह नही पडता। 'यह भी सही है और वह भी सही है, परतु मेरे लिए तो यही सही है', ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है।

एक वार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उसने उससे पूछा—"मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-वार छोडना आवश्यक है?" साधुने कहा—"नही तो। देखो, जनक जैसोने जव राजमहलमे रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुम्हे ही घर छोडनेकी क्या आवश्यकता है?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे उसने पूछा—"स्वामीजी, घर-वार छोडे विना क्या मोक्ष मिल सकता है?" साधुने कहा—"कौन कहता है? घरमे रहकर सेतमेतमे ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक जैसोने जो घर-वार छोडा, तो क्या वे मूर्ख थे?" वादमे उन दोनो मनुष्योकी जव एक-दूसरेसे मुलाकात हुई, तो दोनोमे वडा झगडा मचा। एक कहने लगा—"साधुने घर-वार छोडनेके लिए कहा है।" दूसरेने कहा—"नही, उन्होने कहा है कि घर-वार छोडनेकी आवश्यकता नही है।" तव दोनो साधुके पास आये। साधुने कहा—"दोनो वाते सही है। जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग, और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर। घर छोडनेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोडनेकी जरूरत नही है, यह भी सत्य है।" इसीका नाम है 'भी'-सिद्धान्त।

१९ पुण्डलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मजिलतक पहुँचनेवाला है। तुकारामको जो प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे,

उससे पुण्डलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था, परन्तु वह उसपर भी मोहित नही हुआ। यदि हो जाता, तो फँस जाता। अत एक बार साधनका निश्चय हो जानेपर फिर अततक उसका आचरण करते रहना चाहिए, फिर बीचमे प्रत्यक्ष भगवान्‌के दर्शन जैसी बाधा खडी हो जाय, तो भी उसके लिए साधन छोड़नेकी आवश्यकता न होनी चाहिए। देह बची है, वह साधनके लिए ही है। भगवान्‌का दर्शन तो हाथमे ही है, वह जाता कहाँ है ?

सर्वात्मकपण माझें हिरोनि नेतो कोण ?
मनीं भक्तीची आवडी।

—'मेरा सर्वात्मभाव कौन छीन ले जा सकता है ? मेरा मन तो तेरी भक्तिमे रँगा हुआ है।'

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमे यह जन्म मिला है। **मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि**—इस गीता-वचनका अर्थ यहाँतक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी अर्थात् अतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी वासना मत रख। वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष है। मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना ? जब फल-त्याग इस मजिलतक पहुँच जाता है, तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सध गयी।

१०. आदर्श गुरुमूर्ति

२० शास्त्र भी बतला दिया, कला भी बतला दी, किंतु इतनेसे पूरा चित्र आँखोके सामने खडा नही होता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है, परतु सगुण भी साकार हुए बिना व्यक्त नही होता। केवल निर्गुण जिस प्रकार हवामे रहता है, उसी प्रकार निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है, जिस गुणीमे गुण मूर्तिमान् हुआ है, उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धान्त बता दिये, उन सिद्धान्तोको आचरणमे लानेकी कला भी बतला दी, तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खडा नही होता। अत मुझे अब चरित्र सुनाइये। ऐसे पुरुषोके लक्षण बताइये, जिनकी बुद्धिमे साख्य निष्ठा स्थिर हो गयी है और फल-त्याग-रूपी योग जिनकी रग-रगमे व्याप्त हो गया है। जिन्हे हम 'स्थितप्रज्ञ' कहते है, जो फलत्यागकी पूरी गहराई दिखलाते है, कर्म-समाधिमे मग्न है और निश्चयके महा-मेरु है, वे बोलते कैसे है, बैठते कैसे है, चलते कैसे हैं, यह सब मुझे बताइये। वह मूर्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचाने ? यह सब कहिये भगवन् !"

२१ इसके लिए भगवान्ने दूसरे अध्यायके अन्तिम अठारह श्लोकोमे स्थितप्रज्ञका गम्भीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोकोमे गीताके अठारह अध्यायोका सार ही एकत्र कर दिया है। 'स्थितप्रज्ञ' गीताकी आदर्श मूर्ति है। यह शब्द भी गीताका अपना स्वतन्त्र है। आगे पाँचवे अध्यायमे जीवन्मुक्तका, बारहवेमे भक्तका, चौदहवेमे गुणातीतका और अठारहवेमे ज्ञान-निष्ठका ऐसा ही वर्णन आया है, परन्तु स्थितप्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उसमे सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये है। हजारो सत्याग्रही स्त्री-पुरुष साय-कालीन प्रार्थनामे इन लक्षणोका पाठ करते है। यदि प्रत्येक गाँव और प्रत्येक घरमे वे पहुँचाये जा सके, तो कितना आनन्द हो! परन्तु पहले जब वे हमारे हृदयमे पैठे, तो वे बाहर अपने-आप पहुँच जायँगे। नित्य पाठकी चीज यदि यान्त्रिक हो गयी, तो फिर वह चित्तमे अङ्कित होनेकी जगह उलटी मिट जायगी। पर यह दोष नित्य पाठका नही, मनन न करनेका है। नित्य पाठके साथ-ही-साथ नित्य मनन और नित्य आत्मपरीक्षण आवश्यक है।

२२ 'स्थितप्रज्ञ' यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य, यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परन्तु सयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे? अत स्थितप्रज्ञको सयम-मूर्ति बताया गया है। बुद्धि हो आत्मनिष्ठ, और अन्तर-बाह्य इन्द्रियाँ हो बुद्धिके अधीन—यह है सयमका अर्थ। स्थितप्रज्ञ सारी इन्द्रियोको लगाम चढाकर उन्हे कर्मयोगमे जोतता है। इन्द्रियरूपी बैलोसे वह निष्काम स्वधर्मा-चरणकी खेती भलीभाँति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमे खर्च करता रहता है।

२३ यह इन्द्रिय-सयम सरल नहीं है। इन्द्रियोसे बिल्कुल काम ही न लेना एक तरह आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बाते इतनी कठिन नही है। इससे उल्टे, इन्द्रियोको खुला छोड देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही है। परन्तु जिस प्रकार कछुवा खतरेकी जगह अपने सभी अवयवोको भीतर छिपा लेता है और बिना खतरेवाली जगहपर उनसे काम लेता है, उसी तरह विषय-भोगोसे इन्द्रियोको समेट लेना और परमार्थके काममे उनका उचित उपयोग करना, यह सयम कठिन है। इसके लिए महान् प्रयत्नकी जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परन्तु इतना होनेपर भी ऐसा नही है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जायँ? नही, साधकको कभी निराश न होना चाहिए। वह साधनाकी अपनी सब युक्तियाँ काममे लाये और फिर भी कमी रह जाय,

तो उसमे भक्ति जोड़ दे । यह बडा कीमती सुझाव भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञके लक्षणोमे दिया है । हाँ, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दोमे ही । परन्तु ढेरो व्याख्यानोकी अपेक्षा वह अधिक कीमती है, क्योकि जहाँ भक्तिकी अचूक आवश्यकता है, वही वह उपस्थित की गयी है । स्थितप्रज्ञके लक्षणोका सविस्तर विवरण हमे आज यहाँ नही देना है । परन्तु हम अपनी इस सारी साधनामे भक्तिका अपना निश्चित स्थान कही भूल न जायँ, इसके लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया । पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगत्‌मे कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जाने, परतु सेवापरायण स्थितप्रज्ञके उदाहरणके रूपमे पुण्डलीककी मूर्ति सदैव मेरी आँखोके सामने आती रहती है । और वह मैने आपके सामने रख भी दी है ।

२४. अच्छा, अब स्थितप्रज्ञके लक्षण पूरे हुए, दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ ।

रविवार, २८-२-'३२

३ | कर्मयोग

११. फलत्यागीको अनन्त फल मिलता है

भाइयो,

१. दूसरे अध्यायमे हमने सारे जीवन-शास्त्रपर निगाह डाली । अब तीसरे अध्यायमे इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण है । पहले हमने तत्त्वोका विचार किया, अब उनकी तफसीलमे जायँगे । पिछले अध्यायमे कर्मयोग-सबधी विवेचन किया था । कर्मयोगमे महत्त्वकी वस्तु है फल-त्याग । कर्मयोगमे फल-त्याग तो है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि फिर फल मिलता भी है या नही ? अत तीसरे अध्यायमे कहते है कि कर्मफलोको छोड़नेसे कर्मयोगी उलटा अनतगुना फल प्राप्त करता है ।

यहाँ मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है । उसका था स्वयवर । सारे देव-दानव बड़ी आशा बांधे आये थे । लक्ष्मीने अपना प्रण पहले प्रकट नही किया

था। सभा-मडपमे आकर वह बोली—"मै उसीके गलेमे वरमाला डालूँगी, जिसे मेरी चाह न होगी।" वे तो सब थे लालची। लक्ष्मी नि स्पृह वर खोजने निकल पडी। शेषनागपर शान्त भावसे लेटी हुई भगवान् विष्णुकी मूर्ति उसे दिखाई दी। उनके गलेमे वरमाला डालकर वह अबतक उनके चरण दबाती हुई बैठी ही है। **न मागे तयाची रमा होय दासी**।—'जो नही चाहता, उसकी रमा दासी बनती है।' यही तो खूबी है।

२ साधारण मनुष्य अपने फलके आसपास बाड लगाता है। पर इससे वह मिलनेवाला अनन्त फल खो बैठता है। सासारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्पफल प्राप्त करता है, पर कर्मयोगी थोडा-सा करके भी अनन्तगुना प्राप्त करता है। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता है। टॉल्स्टॉयने एक जगह लिखा है—"लोग ईसामसीहके त्यागकी बहुत स्तुति करते है। परन्तु ये ससारी जीव तो रोज न जाने अपना कितना खून सुखाते हैं, दौड-धूप करते है! पूरे दो गधोका बोझ अपनी पीठपर लादकर चक्कर काटनेवाले ये ससारी जीव, इन्हे ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान्के लिए उठाये, तो सचमुच ईसासे भी बढ जायँगे।"

३ ससारी मनुष्यकी तपस्या सचमुच बडी होती है, परतु वह होती है क्षुद्र फलोके खातिर। जैसी वासना, वैसा फल। अपनी चीजकी जो कीमत हम आँकते हैं, उससे ज्यादा कीमत ससारमे नही आँकी जाती। सुदामा चिउडा लेकर भगवान्के पास गये। उस मुट्ठीभर चिउडेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो, परतु सुदामाको वे अनमोल मालूम होते थे, क्योकि उनमे भक्ति-भाव था। वे अभिमन्त्रित थे। उनके कण-कणमे भावना भरी थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यो न हो, मन्त्रसे उसका मोल, उसकी सामर्थ्य बढ जाती है। नोटका वजन भला कितना होगा? उसे सुलगाये, तो एक बुँद पानी भी शायद ही गरम हो। पर उसपर एक मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोगमे यही सारी खूबी है। कर्मको नोट ही समझो। भावनारूपी मुहरकी कीमत है, कर्मरूपी कागजके टुकडेकी नही। एक तरहसे यह मै मूर्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हूँ। मूर्ति-पूजाकी कल्पनामे बडा सौदर्य है। इस मूर्तिको कौन तोड-फोड सकता है? यह मूर्ति पहले एक टुकडा ही तो थी। मैने इसमे प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावनाके कोई टुकडे कर सकता है? टुकडे पत्थरके ही हो सकते है, भावनाके नही। जब मै अपनी भावना मूर्तिमेसे निकाल लूँगा, तभी वहाँ पत्थर बच रहेगा और तभी उसके टुकडे हो सकते हैं।

४ कर्मका अर्थ हुआ पत्थर, या कागजका टुकडा। मेरी माँने कागजकी एक चिटपर टूटी-फूटी भाषामे दो-चार टेढी-मेढी सतरे लिखकर भेज दी और दूसरे किसीने पचास पन्नोका आलतू-फालतू पुलिंदा लिखकर भेजा। अब किसका वजन ज्यादा होगा? परतु माँकी उन चार सतरोमे जो भाव है, वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह पुलिंदा नही कर सकता। कर्ममे आर्द्रता चाहिए, भावना चाहिए। हम मजदूरके कामकी पैसेमे कीमत लगाते है और उसे मजदूरी दे देते है। परतु दक्षिणाकी बात ऐसी नही है। दक्षिणा भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके सबधमे यह प्रश्न नही उठता कि कितनी दी। महत्त्वकी बात यह है कि उसमे आर्द्रता है या नही। मनुस्मृतिमे एक बडी मजेदार बात है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमे रहकर पशुसे मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे? प्राचीन समयमे पहले ही फीस नही ले ली जाती थी। बारह साल पढ चुकनेके बाद जो कुछ देना हो, सो गुरुको दे दिया जाता था। मनु कहते है—"चढा दो गुरुजीको एकआध पत्र-पुष्प, दे दो एकआध पखा या खडाऊँ, या पानीसे भरा कलश।" इसे आप मजाक मत समझिये, क्योकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिह्न समझकर देना है। फूलमे भला क्या वजन है? परतु उसके भक्तिभावमे ब्रह्माडके बराबर वजन है।

रुक्मिणीनें एकया तुळसीदळानें, गिरिधर प्रभु तुळिला।

–रुक्मिणीने एक ही तुलसीदलसे गिरिधर प्रभुको तौल लिया।'

सत्यभामाके मनभर गहनोसे काम नही चला। परतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसी-दल जब रुक्मिणीमाताने पलडेमे डाल दिया, तो सारा काम बन गया। वह तुलसी-दल अभिमत्रित था। अब वह मामूली नही रह गया था। कर्म-योगीके कर्मकी भी यही बात है।

५ कल्पना कीजिये कि दो व्यक्ति गगा-स्नान करने गये है। उनमेसे एक कहता है—"लोग 'गगा' 'गगा' कहते है, उसमे है क्या? दो हिस्से हाइड्रोजन, एक हिस्सा ऑक्सीजन, ऐसे दो गैस एकत्र कर दिये, तो हो गयी गगा। इससे अधिक उसमे क्या है?" दूसरा कहता है—"भगवान् विष्णुके पद-कमलोसे यह निकली है, शकरके जटाजूटमे इसने वास किया है, हजारो ब्रह्मर्षियोने और राजर्षियोने इसके तीरपर तपस्या की है, अनत पुण्य-कृत्य इसके किनारेपर हुए है—ऐसी यह पवित्र गगामाई है।" इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमे नहाता है। वह ऑक्सीजन-हाइड्रोजनवाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धिरूपी फल तो दोनोको मिला ही। परतु उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धि-रूपी फल भी मिला। यो तो गगामे बैल भी नहाये, तो उसे देह-शुद्धि प्राप्त

होगी। शरीरकी गन्दगी निकल जायगी। परतु मनका मैल कसे धुलेगा? एकको देह-शुद्धिका तुच्छ फल मिला, दूसरेको, उसके अलावा चित्त-शुद्धिरूपी अनमोल फल भी मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवालेको व्यायामका फल तो मिलेगा ही। परतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नही करता, उपासनाके लिए करता है। इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, साथ ही बुद्धिकी प्रभा भी फैलती है। आरोग्यके साथ स्फूर्ति और प्रतिभा भी उसे सूर्यनारायणसे मिलेगी।

६ कर्म वही, परन्तु भावना-भेदसे उसमे अन्तर पड जाता है। परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्म-विकासक होता है, तो ससारी मनुष्यका कर्म आत्मबधक सिद्ध होता है। जो कर्मयोगी किसान होगा, वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा। इससे उसकी उदर-पूर्ति अवश्य होगी, परन्तु उदर-पूर्ति हो, इसलिए वह खेती नही करता, बल्कि खेती कर सके, इसलिए भोजनको वह एक साधन मानेगा। स्वधर्म उसका साध्य और भोजन उसका साधन हुआ। परन्तु दूसरा सामान्य किसान होगा, उसके लिए उदरपूर्ति साध्य और खेतीरूपी स्वधर्म साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है।

दूसरे अध्यायमे स्थितप्रज्ञके लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढगसे कही गयी है। जहाँ दूसरे लोग जागृत रहते है, वहाँ कर्मयोगी सोता रहता है। जहाँ दूसरे लोग निद्रित रहते है, वहाँ कर्मयोगी जागृत रहता है। हम उदर-पूर्तिके लिए जागृत रहेगे, तो कर्मयोगी इस बातके लिए जागृत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्मके न जाय। वह खाता भी है, तो मजबूर होकर। इस पेटके मटकेमे इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है। ससारी मनुष्यको भोजनमे आनन्द आता है, योगीको भोजनमे कष्ट होता है। इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नही करेगा। सयमसे काम लेगा। एककी जो रात, वही दूसरे-का दिन और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात। अर्थात् जो एकका आनन्द, वही दूसरेका दु ख और जो एकका दु ख, वही दूसरेका आनन्द हो जाता है। ससारी और कर्मयोगी दोनोके कर्म तो एक-से ही है, परतु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोडकर कर्ममे ही रमता है। ससारीकी तरह योगी खायेगा, पियेगा, सोयेगा। परतु तत्सबधी उसकी भावना भिन्न होगी। इसीलिए तो आरभमे ही स्थितप्रज्ञकी सयम-मूर्ति खडी कर दी गयी है, जब कि गीताके अभी सोलह अध्याय बाकी है।

ससारी पुरुष और कर्मयोगी, दोनोके कर्मोका साम्य और वैषम्य तत्काल दिखाई दे जाता है। फर्ज कीजिये कि कर्मयोगी गो-रक्षाका काम कर रहा है,

तो वह किस दृष्टिसे करेगा ? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध उपलब्ध हो, गायके बहाने मनुष्यसे निचली पशु-सृष्टिसे प्रेम-सबध जुडे । यह नही कि मुझे वेतन मिले । वेतन तो कही गया नही है, परतु असली आनन्द, सच्चा सुख इस दिव्य भावनामे है ।

७ कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरस कर देता है । तुलसीको जल चढाये बिना भोजन नही करेगे, इसमे वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-सबध जोडा है । तुलसीको भूखा रखकर मै पहले कैसे खा लूँ ? इस तरह गायके साथ एकरूपता, वनस्पतिके साथ एकरूपता साधते-साधते हमे सारे विश्वसे एकरूपता साधनी है । भारतीय युद्धमे शाम होते ही सब लोग तो साय-सध्या करनेके लिए चले जाते है, परतु भगवान् श्रीकृष्ण रथके घोडे खोलकर उन्हे पानी दिखाते, खरहरा करते और उनके शरीरसे शल्य निकालते है । उस सेवामे भगवान्‌को कितना आनन्द आता था ! कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नही । अपने पीताम्बरमे दाना-रातिब लेकर घोडोको देनेवाले उस पार्थसारथीका चित्र अपनी आँखोके सामने खडा कीजिये और कर्मयोगके आनन्दकी कल्पनाका अनुभव कीजिये । प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म है । खादीके ही कामको लीजिये । कधेपर खादीकी गाँठ लादकर घर-घर फेरी लगानेवाला क्या ऊब जाता है ? नही, क्योकि वह इस विचारमे मस्त रहता है कि देशमे जो मेरे करोडो नगे-भूखे भाई-बहन है, उन्हे मुझे दो कौर खिलाना है । उसका वह गजभर खादी खपाना समस्त दरिद्रनारायणके साथ जुडा हुआ होता है ।

१२. कर्मयोगके विविध प्रयोजन

८ निष्काम कर्मयोगमे अद्‌भुत सामर्थ्य है । ऐसे कर्मसे व्यक्ति और समाज, दोनोका परम कल्याण होता है । स्वधर्माचरण करनेवाले कर्मयोगीकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, परन्तु सदा-सर्वदा उद्योगरत रहनेके कारण उसका शरीर नीरोग और स्वच्छ रहता है । उसके इस कर्मकी बदौलत उसके समाज-का भी, जिसमे वह रहता है, अच्छी तरह योग-क्षेम चलता है । कर्मयोगी किसान, ज्यादा पैसा मिलेगा—इसलिए अफीम और तबाकू नही बोयेगा । वह अपने कर्मका सबध समाज-मगलके साथ जोडता है । स्वधर्मरूप कर्म समाजके लिए हितकर ही होगा । जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहार-रूप कर्म जनताके हितके लिए है, वह कभी विदेशी कपडा नही बेचेगा । उसका व्यापार समाजोपकारक होगा । अपनेको भूलकर अपने आसपासके समाजसे

समरस होनेवाले ऐसे कर्मयोगी जिस समाजमे पैदा होते है, उसमे सुव्यवस्था, समृद्धि और सौमनस्य रहता है।

९ कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, उसकी देह और वुद्धि तेजस्वी रहती है और समाजका भी कल्याण होता है। इन दो फलोके अलावा चित्त-शुद्धिका भी महान् फल उसे मिलता है। कर्मणा शुद्धि —ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है, परतु सर्वसाधारण जो कर्म करते है, वह नही। कर्मयोगी जो अभिमत्रित कर्म करता है, उसीसे चित्तशुद्धि होती है।

महाभारतमे तुलाधार वैश्यकी कथा है। जाजलि नामक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहते है—"भैया, इस तराजूकी डडीको सदा सीधा रखना पडता हे।" इस बाह्यकर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा-सरल हो गया। छोटा बच्चा दूकानमे आ जाय या वडी उम्रका, उसकी डडी सबके लिए एक-सी रहती है—न ऊँची, न नीची। उद्योगका मनपर परिणाम होता है। कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और फिर निर्मल चित्तमे ज्ञानका प्रतिविंव पडता है। अपने भिन्न-भिन्न कर्मोसे कर्मयोगी अन्तमे ज्ञान प्राप्त करते है। तराजूकी डडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली।

सेना नाई वाल बनाया करता था। दूसरोके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मै दूसरोके सिरका मैल तो निकालता हूँ, परतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी वुद्धिका भी मैल मैने निकाला है?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे उस कर्मसे सूझने लगी। खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयका वासना-विकाररूपी कचरा निकाल डालनेकी वुद्धि उपजती है।

कच्ची मिट्टीको रौद-रौदकर समाजको पक्की हँडिया देनेवाला गोरा कुम्हार अपने मनमे ऐसी पक्की गाँठ वाँधता है कि मुझे अपने जीवनकी भी हँडिया पक्की बना लेनी चाहिए। इस तरह वह हाथमे थपकी लेकर 'हँडिया कच्ची है या पक्की ?'—यो सतोकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जो-जो कर्म या धधे करता है, उनकी भाषामेसे ही उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे कर्म क्या थे, मानो उनकी अध्यात्म-शाला ही! उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे। वे देखनेमे व्यावहारिक, परन्तु वास्तवमे आध्यात्मिक थे।

१० कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है और वह है, समाजके सामने एक आदर्श । समाजमे यह भेद तो है ही कि यह पहले जनमा है और यह बादमे । जिनका जन्म पहले हुआ है, उनके जिम्मे बादमे पैदा होनेवालोके लिए उदाहरण बन जानेका काम रहता है । बडे भाईपर छोटे भाईको, माँ-बापपर बेटे-बेटीको, नेतापर अनुयायियोको, गुरुपर शिष्यको अपनी कृतिके द्वारा एक उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है । ऐसा उदाहरण कर्मयोगियोके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है ?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है, क्योकि कर्ममे ही उसे आनन्द मालूम होता है । इससे समाजमे दभ नही बढता । कर्मयोगी स्वय-तृप्त होता है, तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नही जाता । तुकाराम कहते है—"भजनसे भगवान् मिल गया, तो क्या इसलिए मै भजन छोड दूँ ? भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया ।"

> आधीं होता सतसग । तुका झाला पाडुरग ।
> त्याचें भजन राहीना । मूळस्वभाव जाईना ॥

—'पहले सतसग था, जिससे तुकाराम पाडुरग बन गया । लेकिन उसके भजनका तार अब टूटता नही । भला मूल स्वभाव भी कही छूटता है ?'

कर्मको सीढीसे चढकर शिखरतक पहुँच गये । परतु शिखरपर पहुँचनेपर भी कर्मयोगी सीढी नही छोडता । वह उससे छूट ही नही सकती । उसकी इन्द्रियोको उन कर्मोको करनेकी सहज आदत ही पड जाती है । इस तरह स्वधर्म-कर्मरूपी सेवाकी सीढीका महत्त्व वह समाजको जॅचाता रहता है ।

समाजसे ढोगका मिटना बहुत ही बडी चीज है । ढोग-पाखडसे समाज डूब जाता है । ज्ञानी यदि खामोश बैठ जाय, तो उसे देखकर दूसरे भी हाथ-पर-हाथ धरकर बैठने लगेगे । ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होनेके कारण आतरिक सुखमे [illegible] न रहकर शात रहेगा, परतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-[illegible] हो जायगा । एक अन्तस्तृप्त होकर स्वस्थ बैठा है, तो दूसरा मनमे कुढता [illegible] स्वस्थ बैठा है—ऐसी भयकर स्थिति है । इसमे दभ, पाखड बढेगा । अतः [illegible]रे सत शिखरपर पहुँचकर भी साधनका पल्ला बडी सतर्कतासे पकडे रहे, [illegible] स्वधर्माचरण करते रहे । माता बच्चोके गुड्डा-गुडियोके खेलोमे रस [illegible]ती है । वह यह समझते हुए भी कि ये बनावटी है, उनके खेलोमे शरीक होकर उनमे रुचि उत्पन्न करती है । माँ यदि उन खेलोमे शरीक न हो, तो बच्चोको उनमे मजा नही आयेगा । कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड देगा, तो

दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड देगे, हालाँकि मनमे भूखे और निरानन्द रहेगे।

अत कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह नही मानता कि मै कोई विशिष्ट मनुष्य हूँ। औरोकी अपेक्षा वह अनतगुना परिश्रम बाहरसे करता है। अमुक कर्म पारमार्थिक है, ऐसी छाप लगानेकी जरूरत नही है। कर्मका विज्ञापन करनेकी जरूरत नही है। यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममे औरोकी अपेक्षा सौगुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलनेपर भी तिगुना काम होने दो, समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमे दीखने दो। चदनकी सुगध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोडनेसे ऐसे अनत फल प्राप्त करेगा। उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी। शरीर और बुद्धि दोनो सतेज रहेगे। जिस समाजमे वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्तशुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा और समाजमे ढोग, पाखड मिटकर जीवनका पवित्र आदर्श प्रकट होगा। कर्मयोगकी यह अनुभवसिद्ध महिमा है।

१३. कर्मयोग-व्रतोका अन्तराय

११ कर्मयोगी अपना कर्म औरोकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा, क्योकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है। मैने भगवान्‌का पूजन किया। फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमे पाया। परतु क्या वह नैवेद्य उस पूजाका फल है? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा, उसे प्रसादका अश तो तुरत मिलेगा ही। परतु जो कर्मयोगी है, वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शनरूपी फल चाहता है। वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोडी नही समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्मकी कीमत कम आँकनेके लिए तैयार नही है। स्थूल नापसे वह अपने कर्मोको नही नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है, उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेतीकी एक कहावत है—'**गहरा बो, पर गीला बो।**' महज गहरे जोतनेसे काम नही चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई और तरी, दोनो होगी तो भुट्टा बडा, कलाईके बराबर निकलेगा। अत कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमे ईश्वर-भक्ति, ईश्वरार्पणतारूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थके सबधमे कुछ मूर्खतापूर्ण कल्पनाएँ हमारे अदर फैल गयी हैं। लोग समझते है कि जो परमार्थी हो गया, उसे हाथ-पाँव हिलानेकी जरूरत नही, काम-काज करनेकी जरूरत नही। कहते है, जो खेती करता है, खादी बुनता है, वह कैसा परमार्थी ? परतु कोई यह नही पूछता कि जो भोजन करता है, वह कैसा परमार्थी ? कर्मयोगियोका परमेश्वर तो कही घोडोको खरहरा करता हुआ खडा है, राजसूय-यज्ञके समय जूठी पत्तले उठाता है, जगलमे गाये चराने जाता है। वह द्वारिकाधीश फिर जब कभी गोकुल जाता था, तो वसी बजाते हुए गाये चराता था। इस तरह सतोने तो घोडोको खरहरा करनेवाला, गाये चरानेवाला, रथ हाँकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपनेवाला, कर्मयोगी परमेश्वर खडा किया है। और खुद सत भी कोई दरजीका तो कोई कुम्हारका, कोई बुनकरका तो कोई मालीका, कोई आटा पीसनेका तो कोई बनियेका, कोई नाईका तो कोई मरे ढोर खीचनेका, काम करते-करते मुक्त हो गये है।

१२ ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोसे डिगता है। इस सिलसिलेमे हमे इन्द्रियोका विशिष्ट स्वभाव ध्यानमे रखना चाहिए। हमारी इन्द्रियाँ सदैव 'यह चाहिए और वह नही चाहिए'—ऐसे द्वद्वोसे घिरी रहती है। जो चाहिए, उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो नही चाहिए, उसके प्रति मनमे द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्योको नोच-नोचकर खाते है। कर्मयोग वैसे कितना बढिया, कितना रमणीय, कितना अनत फलदायी है! परतु ये काम-क्रोध 'इसे ले और उसे छोड'—ऐसा झमेला हमारे पीछे लगाकर दिन-रात हमे सताते रहते है। अत भगवान् इस अध्यायके अतमे खतरेकी घटी बजाते है कि इनका सग छोडो, इनसे बचो। स्थितप्रज्ञ जिस प्रकार सयमकी मूर्ति होता है, उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

रविवार, ६-३-'३२

कर्मयोग सहकारी साधना : विकर्म | ४

१४. कर्मको विकर्मका साथ चाहिए

भाइयो,

१ पिछले अध्यायमे हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया है। स्व-धर्मको टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेगे, तो निष्कामतारूपी फल अशक्य ही है। स्वदेशी माल बेचना व्यापारीका स्वधर्म है। परतु इस स्वधर्मको छोडकर जब वह सात समुदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब मूलत: उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुत नफा मिलेगा। तो फिर उस कर्ममे निष्कामता कहाँसे आयेगी ? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह स्वधर्माचरण भी 'सकाम' हो सकता है। अहिसाकी ही बात हम ले। जो अहिसाका उपासक है, उसके लिए हिसा तो वर्ज्य है। परतु यह सभव है कि ऊपरसे अहिसक होते हुए भी वह वास्तवमे हिसामय हो, क्योकि हिसा मनका एक धर्म है। महज बाहरसे हिसा-कर्म न करनेसे ही मन अहिसामय हो जायगा, सो बात नही। तलवार हाथमे लेनेसे हिसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है, परतु तलवार छोड देनेसे मनुष्य अहिसा-मय होता ही है, सो बात नही। ठीक यही बात स्वधर्माचरणकी है। निष्कामता-के लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परतु यह तो निष्कामताका आरभमात्र हुआ। इससे हम साध्यतक नही पहुँच गये।

निष्कामता मनका धर्म है। इसकी उत्पत्तिके लिए स्वधर्माचरणरूपी साधन ही काफी नही है। दूसरे साधनोका भी सहारा लेना पडेगा। अकेली तेलबत्तीसे दीया नही जल जाता। उसके लिए ज्योतिकी जरूरत होती है। ज्योति होगी, तो अँधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगाये ? इसके लिए मानसिक सशोधन-की जरूरत है। आत्म-परीक्षणके द्वारा चित्तकी मलिनता—कूडा-कचरा—धो डालना चाहिए। तीसरे अध्यायके अतमे यही मार्केकी बात भगवान्‌ने बतायी थी। इसीमेसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है।

२ गीतामे 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही है, परन्तु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएँ सूचित

नही होती है। कर्मसे वहाँ मतलब स्वधर्माचरणसे है। परन्तु इस स्वधर्माचरणरूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक महत्त्वपूर्ण सहायता जरूरी है। वह है, काम और क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गंगाजलकी तरह निर्मल और प्रशात न हो जाय, तबतक निष्कामता नही आ सकती। इस तरह चित्त-सशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायँ, उन्हे गीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म', 'विकर्म' और 'अकर्म'—ये तीन शब्द इस चौथे अध्यायमे बडे महत्त्वके है। 'कर्म' का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रियामे चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। ऊपरसे हम किसीको नमस्कार करते है, परन्तु सिर झुकानेकी उस ऊपरी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो, तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अतर्बाह्य दोनो एक होना चाहिए। बाहरसे मै शिव-लिंगपर सतत जल-धारा गिराते हुए अभिषेक करता हूँ। परन्तु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिन्तनकी धारा भी अखड न चलती हो, तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही ? फिर तो सामनेका वह शिवलिग भी पत्थर और मै भी पत्थर! पत्थरके सामने पत्थर बैठा, यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अदरसे चित्तशुद्धिरूपी कर्मका भी सयोग होता है।

३ 'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमे 'कर्म' पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमे 'अहिसात्मक' पदको। अहिसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलबन करेगे, तो वह एक भयकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरणरूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमे नही जुडा है, तो उसमे खतरा है।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते है, वे स्वधर्मका ही आचरण करते है। जब लोग गरीब, कगाल, दुखी और मुसीबतमे होते है, तब उनकी सेवा करके उन्हे सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परन्तु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते है, वे सब कर्मयोगी हो गये है। लोक-सेवा करते हुए यदि मनमे शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी सभावना है। अपने कुटुम्बकी सेवा करते हुए जितना अहकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतना सब लोक-सेवामे भी हम उत्पन्न करते है और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमे आजकलके लोक-सेवकोके जमघटमे दिखाई भी दे रहा है।

१५ उभय संयोगसे अकर्म-स्फोट

४ कर्मके साथ मनका मेल जरूरी है। इस मनके मिलनको ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहरका स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकताके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमे बताये गये है। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायमे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसधानका योग जब हम करेगे, तभी उसमे निष्कामताकी ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है, तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अदर आती रहती है। यदि शरीर और मन भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है, तो साधन भी दोनोके लिए भिन्न-भिन्न ही होगे। जब इन दोनोका मेल बैठ जाता है, तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ, ऐसा न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारोने दुहरा मार्ग बताया है। भक्तियोगमे बाहरसे तप और भीतरसे जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप व्यर्थ चला जाता है। जिस भावनासे मै तप कर रहा हूँ, वह भावना अन्दर सतत जगमगाती रहनी चाहिए। 'उपवास' शब्दका अर्थ ही है, भगवान्के पास बैठना। परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, इसके लिए बाहरी भोगोका दरवाजा बन्द करनेकी जरूरत है। परन्तु बाहरसे विषय-भोगोको छोडकर यदि मनमे भगवान्का चिन्तन न किया जाय, तो फिर इस बाहरी उपवासकी क्या कीमत रही? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीनेकी चीजोका ही चिंतन करते रहे, तो फिर वह बडा ही भयकर भोजन हो जायगा। यह जो मानसिक भोजन, मनमे विषयोका चितन रहा, उससे बढकर भयकर वस्तु दूसरी नही। तत्रके साथ मत्र होना चाहिए। केवल बाह्यतत्रका कोई महत्त्व नही। केवल कर्महीन मत्रका भी कोई महत्त्व नही। हाथमे भी सेवा हो और हृदयमे भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथो बन पडेगी।

५ यदि बाह्य कर्ममे हृदयकी आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण सूखा रह जायगा। उसमे निष्कामतारूपी फूल-फल नही लगेगे। मान लो, हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की, परन्तु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमे कोमल दया-भाव न हो, तो वह रुग्णसेवा नीरस मालूम होगी और उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ होगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम

पडेगी। उस सेवामे यदि मनका सहयोग न हो, तो उससे अहङ्कार पैदा होगा। 'मै आज उसके काम आया हूँ, तो उसे भी मेरे काम आना चाहिए। उसे मेरी तारीफ करनी चाहिए। लोगोको मेरा गौरव करना चाहिए'—आदि अपेक्षाएँ मनमे उत्पन्न होगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेगे—"हम इसकी सेवा करते है, फिर भी यह बडबडाता रहता है।" बीमार आदमी वैसे ही चिडचिडा हो जाता हे। उसके ऐसे स्वभावसे वह सेवक, जिसके मनमे सच्चा सेवा-भाव नही होगा, ऊब जायगा।

६ कर्मके साथ जब आतरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता हे। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल होनेपर निष्कामता आती है। बारूदमे बत्ती लगानेसे धडाका होता है। उस बारूदमे एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म बदूककी बारूदकी तरह है। उसमे विकर्मकी बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक विकर्म आकर नही मिलता, तबतक वह कर्म जड है। उसमे चैतन्य नही। एक बार जहाँ विकर्मकी चिनगारी उसमे गिरी कि फिर उस कर्ममे जो सामर्थ्य पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटीभर बारूद जेबमे पडी रहती है, हाथमे उछलती रहती है, पर जहाँ उसमे बत्ती लगी कि शरीरकी चिन्दी-चिन्दी उडी। स्वधर्माचरणकी अनत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहती है। उसमे विकर्मको जोडिये, फिर देखिये क्या चमत्कार होते है! उसके स्फोटसे अहकार, काम, क्रोध भस्म हो जायँगे और उसमेसे उस परम ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

७ कर्म ज्ञानका ईधन है। लकडीका बडा-सा कुदा कही पडा हो, उसे आप जला दीजिये। वह जगमग अगार हो जाता है। उस लकडी और उस आगमे कितना अन्तर है! परन्तु उस लकडीकी ही वह आग होती है। कर्ममे विकर्म डाल देनेसे कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। माँ बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिसपर एक हाथ यो ही इधर-उधर फिर गया। परन्तु इस एक मामूली कर्मसे उन माँ बेटेके मनमे जो भावनाएँ उठी, उनका वर्णन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लबी-चौडी पीठपर इतने वजनका एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनद उत्पन्न होगा, तो वह एक मजाक ही होगा। हाथ फिरानेकी वह क्षुद्र क्रिया, परतु उसमे माँका हृदय उँडेला हुआ है। वह विकर्म उँडेला हुआ है, इसीसे यह अपूर्व आनद प्राप्त होता है। तुलसी-रामायणमे एक प्रसग आया है। राक्षसोसे लड़कर बदर आते है। वे जख्मी हो गये है। बदनसे खून बह रहा है। परतु

प्रभु रामचन्द्रके एक बार प्रेमपूर्वक दृष्टिपात करनेभरसे उन बदरोकी वेदना मिट गयी।

राम कृपा करि चितवा सबही।
भये विगतस्रम बानर तबही॥

अब यदि दूसरे मनुष्यने रामकी उस समय आँख कितनी खुली थी इसका फोटो लेकर किसीकी ओर उसी प्रकार देखा होता, तो क्या उसका वैसा प्रभाव पडा होता? वैसा करनेका यत्न हास्यास्पद है।

८ कर्मके साथ जब विकर्मका जोड मिल जाता है, तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेसे अकर्म निर्माण होता है। लकडी जलनेपर राख हो जाती है। पहलेका वह इतना बडा लकडीका कुदा, अन्तमे चिमटीभर बेचारी राख रह जाती है उसकी! खुशीसे उसे हाथमे ले लीजिये और सारे बदनपर मल लीजिये। इस तरह कर्ममे विकर्मकी ज्योति जला देनेसे अन्तमे अकर्म हो जाता है। कहाँ लकडी और कहाँ राख? 'क्व केन सम्बन्ध।' उनके गुण-धर्मोमे अब बिलकुल साम्य नही रह गया। परन्तु इसमे कोई शक नही है कि वह राख उस लकडीके कुन्देकी ही है।

९ कर्ममे विकर्म उडेलनेसे अकर्म होता है, इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नही होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नही मालूम होता। करके भी अकर्ता रहते है। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नही। माँ बच्चेको पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नही सहेगा। माँ मारती है, फिर भी वह उसके आँचलमे मुह छिपाता है, क्योकि माँके बाह्य कर्ममे चित्त-शुद्धिका मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भावसे है। उस कर्ममे उसका स्वार्थ नही है। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण, कर्मका कर्मत्व उड जाता है। रामकी वह दृष्टि, आतरिक विकर्मके कारण केवल प्रेम-सुधा-सागर हो गयी थी, परन्तु रामको उस कर्मका कोई श्रम नही हुआ था। चित्त-शुद्धिसे किया हुआ कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य बाकी नही रहता, नही तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर, हमारी बुद्धि और हृदयपर पडता है। यदि यह खबर आज दो बजे उडे कि कल ही सारे राजनीतिक कैदी छूट जानेवाले है, तो फिर देखो, कैसी हलचल मच जाती है। चारो ओर गडबडी शुरू हो जाती है। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे मानो व्यग्र रहते है। कर्म हमे चारो ओरसे घेर लेता है, मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबायी है। जिस तरह समुद्रका प्रवाह जोरसे जमीनमे धँसकर खाडियाँ बना देता है, उसी तरह

कर्मका यह जजाल चित्तमे घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दु खके द्वन्द्व निर्माण होते है। सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया, परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्तपर हावी हो जाता है। फिर उसकी नीद हराम हो जाती है।

परन्तु ऐसे इस कर्ममे यदि विकर्मको मिला दे, तो फिर चाहे जितने कर्म करे, उनका श्रम नही मालूम होता। मन ध्रुवकी तरह शान्त, स्थिर और तेजोमय बना रहता है। कर्ममे विकर्म डाल देनेसे वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्मको करके फिर उसे पोछ दिया हो।

१६. अकर्मकी कला सन्तोंसे पूछें

१० यह कर्म अकर्म कैसे होता है? यह कला किसके पास मिलेगी? सन्तोके पास। इस अध्यायके अन्तमे भगवान् कहते है—"सन्तोके पास जाकर बैठो और उनसे शिक्षा लो।" कर्म अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमे भाषा समाप्त हो जाती है। उसकी पूरी कल्पना कर लेनेके लिए सन्तोके चरणोमे बैठना चाहिए। परमेश्वरका वर्णन भी तो है—

शान्ताकार भुजगशयनम्।

परमेश्वर हजार फनोके शेपनागपर सोते हुए भी शान्त है। इसी तरह सन्त हजारो कर्म करते हुए भी रत्तीभर क्षोभ-तरङ्ग अपने मानस-सरोवरमे नही उठने देते। यह खूबी सन्तोके गाँव गये विना समझमे नही आ सकती।

११ आजके जमानेमे पुस्तके बहुत सस्ती हो गयी है। एक-एक, दो दो आनेमे गीता, 'मनाचे श्लोक'* आदि मिल जाते है। गुरुओकी भी कमी नही। शिक्षा उदार और सस्ती है। विद्यापीठ ज्ञानकी खैरात बाँटते है। परन्तु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नही आती। पुस्तकोके इस अम्बारको देखकर सन्त-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा महसूस हो रही है। पुस्तकोकी मजबूत कपडेकी जिल्दके बाहर ज्ञान नही आता। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभंग हमेशा याद आ जाता है—

काम क्रोध आड पडिले पर्वत।
राहिला अनन्त पैलीकडे॥

'काम-क्रोधके पहाड रास्तेमे खडे है। भगवान् उनके उस पार है।'

काम-क्रोधरूपी पहाडोके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयो और ग्रन्था-

---

* समर्थ रामदासकृत मराठी पुस्तक।

ल्योकी भरमार होनेपर भी अभीतक मनुष्य सब जगह सस्कारहीन और ज्ञान-हीन वन्दर जैसा दिखाई देता है। वडोदामे वहुत वडी लाइब्रेरी है। एक वार एक सज्जन एक वडी सी पुस्तक लेकर जा रहे थे। उसमे तसवीरे थी। वे उसे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अग्रेजी पुस्तक है। मैने पूछा—"कौन-सी पुस्तक है?" उन्होने पुस्तक आगे वढा दी। मैने कहा—"यह तो फ्रेन्च है", तो उन्होने कहा—"अच्छा, फ्रेन्च आ गयी?" परम पवित्र रोमन लिपि, वढिया तसवीर, सुन्दर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी!

१२ अग्रेजीमे हर साल कोई दस हजार नयी कितावे तैयार होती हैं। यही हाल दूसरी भाषाओका समझिये। ज्ञानका इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्यका दिमाग अवतक खोखला ही कैसे वना हुआ है? कोई कहता है, स्मरणशक्ति कमजोर हो गयी है। कोई कहता है, एकाग्रता नही होती। कोई कहता है, जो भी पढते है, सच ही मालूम होता है। और कोई कहता है, अजी, विचार करनेको फुरसत ही नही मिलती! श्रीकृष्ण कहते है–"अर्जुन, वहुत कुछ सुन-सुनाकर चक्करमे पडी तेरी वुद्धि जवतक स्थिर नही होगी, तवतक तुझे योगप्राप्ति नही हो सकती। सुनना और पढना अव वन्द करके सन्तोकी शरण ले! वहाँ जीवन-ग्रन्थ पढनेको मिलेगा। वहाँका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-सशय' हो जायगा। वहाँ जानेसे तुझे मालूम हो जायगा कि लगातार सेवा-कर्म करते हुए भी हम अत्यन्त शात कैसे रहे, वाहरसे कर्मका जोर रहते हुए भी हृदयमे कैसे अखड सगीतकी सितार मिलायी जा सकती है।"

रविवार, १३-३-'३२

दोहरी अकर्मावस्था : योग और संन्यास

१७. वाह्य कर्म मनका दर्पण

१. ससार वडा भयानक है। वहुत वार उसे समुद्रकी उपमा दी जाती है। समुद्रमे जहाँ देखिये, पानी-ही-पानी दिखाई देता है। वही हाल ससारका है। ससार सर्वत्र भरा हुआ है। यदि कोई व्यक्ति घर-वार छोडकर सार्वजनिक सेवामे लग जाता है, तो वहाँ भी उसके मनमे ससार अपना पड़ाव डाले वैठा

ही मिलता है। कोई यदि गुफामे जाकर बैठ जाय, तो भी उसकी बित्तेभर लॅगोटीमे ससार ओत-प्रोत रहता है। वह लॅगोटी उसकी ममताका सार-सर्वस्व बन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमे हजार रुपये भरे रहते है, वैसे ही उस छोटी-सी लॅगोटीमे भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-प्रपच छोडा, विस्तार कम किया, तो इतनेसे ससार कम नही हो जाता। $\frac{१०}{५}$ कहो या $\frac{२}{१}$ कहो दोनोका मतलब एक ही है। चाहे घरमे रहो या वनमे, आसक्ति तो, पास ही बसी रहती है। ससार लेशमात्र भी कम नही होता। दो योगी भले ही हिमालयकी गुफामे जाकर बैठ जायॅ, पर वहाॅ भी एक-दूसरेकी कीर्ति उनके कानोमे जा पडे, तो वे जल-भुन जायँगे। सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमे भी ऐसा ही दृश्य दिखाई देता है।

२ इस प्रकार यह ससार-प्रपच हाथ धोकर हमारे पीछे पडा है, जिससे स्वधर्माचरणकी मर्यादामे रहते हुए भी ससारसे पिड नही छूटता। बहुतेरा उखाड-पछाड करना छोड दिया और झझटे भी कम कर दी, अपना ससार-प्रपच भी छोटा कर दिया, तो भी वहाॅ पूरा ममत्व भरा रहता है। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते है, कभी बडे, वही हाल इस ससारका है। छोटे हो या बडे, आखिर वे है तो राक्षस ही। चाहे महलोमे हो या झोपडीमे, दुर्निवारत्व एक-सा ही है। स्वधर्मका बन्धन डालकर यद्यपि ससार-प्रपचको मर्यादित रखा, तो भी वहाॅ अनेक झगडे पैदा हो जायँगे और तुम्हारा जी वहाॅसे ऊब उठेगा। वहाॅ भी अनेक सस्थाओ और अनेक व्यक्तियोसे तुम्हारा सम्बन्ध बँधेगा और तुम त्रस्त हो जाओगे। कहने लगोगे, 'कहाॅ इस आफतमे आ फँसे!' लेकिन तुम्हारा मन कसौटीपर भी तभी चढेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलिप्तता नही आ जाती। कर्मकी व्याप्तिको कम करना अलिप्त होना नही है।

३. फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो? उसके लिए मनोमय प्रयत्न जरूरी है। मनका सहयोग जबतक न हो, तबतक कोई भी बात सिद्ध नही हो सकती। माॅ-बाप किसी सस्थामे अपना लडका भेज देते है। वह वहाॅ सबेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है, चाय नही पीता। परन्तु घर आते ही दो-चार दिनोमे वह सब-कुछ छोड देता है, ऐसे अनुभव हमे होते है। मनुष्य कोई मिट्टीका ढेला तो है नही। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते है, वह उसके मनमे बैठना तो चाहिए न? मन यदि आकारमे नही बैठा, तो कहना होगा कि बाहरकी वह सारी तालीम व्यर्थ गयी! इसलिए साधनमे मानसिक सह-योगकी बहुत आवश्यकता है।

४ साधनके रूपमे बाहरसे स्वधर्माचरण और भीतरसे मनका विकर्म, दोनो बाते चाहिए। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नही होती। प्रात कालके प्रशान्त समयमे हमे अपना मन अत्यत शात मालूम होता है। परन्तु बच्चेको जरा रोने दो, उस मन शान्तिकी असली कीमत हमे मालूम हो जाती है। अत बाह्य कर्मको टालनेमे काम नही चलेगा। ऐसे कर्मोसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ दीखता है। परन्तु उसमे पत्थर डालिये, तुरन्त ही अन्दरकी गन्दगी ऊपर तैर आयेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अन्त सरोवरमे घुटनेभर गन्दगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह ऊपर आ जाती है। हम कहते है, उसे गुस्सा आ गया। तो यह गुस्सा कही बाहरसे आ गया ? वह तो अन्दर ही था। मनमे यदि न होता, तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते है—"सफेद खादी नही चाहिए, वह मैली हो जाती है। रगीन खादी मैली नही होती।" पर मैली तो वह भी होती है। हाँ, दिखाई नही देती। सफेद खादीका मैल दीख जाता है। वह कहती है—"मै मैली हूँ, मुझे धो डालो।" यह मुँहसे बोलनेवाली खादी लोगोको पसन्द नही आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी है, स्वार्थी है या और कुछ है। कर्म वह दर्पण है, जो हमारा स्वरूप हमे दिखा देता है। अत हमे कर्मका आभारी होना चाहिए। दर्पणमे यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे, तो क्या हम उसे फोड डालेगे ? नही, उलटा उसका आभार मानेगे। मुँह धो-धाकर फिर उसमे चेहरा देखेगे। इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका पापदोष बाहर आता है, इसलिए क्या हम कर्मसे बचना चाहेगे ? कर्मको टालनेमे क्या हमारा मन निर्मल हो जायगा ? अत कर्म करते रहे और निर्मल होनेका उत्तरोत्तर प्रयत्न करते रहे।

५ कोई मनुष्य गुफामे जा बैठता है। वहाँ उसका किसीसे भी सपर्क नही होता। वह समझने लगता है कि अब मै बिलकुल शात-मति हो गया। परन्तु गुफा छोडकर उसे किसीके यहाँ भिक्षा माँगने जाने दीजिये। वहाँ कोई खिलाडी लडका दरवाजेकी साँकल खटखटाता है। वह बाल-ब्रह्म तो उस नाद-ब्रह्ममे तल्लीन हो जाता है, परतु उस निष्पाप बच्चेका वह साँकल बजाना उस योगीको सहन नही होता। वह कहता है—"बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है!" गुफामे रहकर उसने अपने मनको इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नही होता। जरा खट-खट हुई कि बस, उसकी शाति डिगने लगती है। मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नही।

६ साराश यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बडे कामकी चीज है। जब दोप दिखाई देगे, तो वे दूर भी किये जा सकेगे। यदि दोप मालूम ही न हो, तो प्रगति रुकी, विकास समाप्त। कर्म करेगे तो दोप दिखाई देगे। उन्हे दूर करनेके लिए विकर्मकी योजना करनी पडती है। भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगे, तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहे, काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहे, यह बात यथासमय समझमे आ जायगी। कर्मको निर्मल रखनेका सतत प्रयत्न हो, तो फिर आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एकके बाद एक सहज भावसे होने लगते है, तो फिर सहसा यह पता भी नही लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है, तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही 'अकर्म' कहते है, यह हमने चौथे अध्यायमे देख लिया है। कर्म 'अकर्म' कैसे होता है, सो सत-चरणोमे बैठनेसे मालूम होगा, यह भी भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अन्तमे बता दिया है। इस अकर्म-स्थितिका वर्णन करनेके लिए वाणी अपर्याप्त है।

१८. अकर्म-दशाका स्वरूप

७ कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण ले। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितना कष्ट होता है! किंतु हमे उसकी इस लीलासे आनद होता है। हम कहते है,—'देखो, लल्ला चलने लगा।' परतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है और बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नही रहता। यही बात खानेके सबधमे है। हम छोटे बच्चेका अन्नप्राशन कराते है, मानो खाना कोई बडा काम हो। परतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है, तो कितना कष्ट होता है! शुरूमे उसे तैरनेसे थकान आती है, पर बादमे जब वह दूसरा श्रम करके थक जाता है, तो कहता है कि 'चलो, जरा तैर आये तो थकान निकल जाय।' अब वह तैरना कष्टकर नही मालूम होता। शरीर यो ही सहज भावसे पानीपर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब उन कर्मोमे व्यस्त रहता है, तब श्रम मालूम होता है, परतु कर्म जब सहज होने लगते है, तो फिर उनका बोझ नही मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनन्दमय हो जाता है।

८ कर्मको अकर्म कर देना हमारा ध्येय है। इसके लिए स्वधर्माचरणरूपी कर्म करने है। उन्हे करते हुए दोप नजर आयेगे, जिन्हे दूर करनेके लिए

विकर्मका पल्ला पकडना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममे त्रास या कष्ट बिलकुल नही मालूम होता। हजारो कर्म हाथोसे होते रहनेपर भी मन निर्मल और शात रहता है। आप आकाशसे पूछिये–"भाई आकाश, तुम गर्मीमे झुलसते होगे, वर्षामे भीगते होगे और सर्दीमे ठिठुरते होगे!" तो वह क्या जवाब देगा? वह कहेगा–"मुझे क्या होना है, इसका फैसला तुम करो, मै कुछ नही जानता।"

पिसे नेसलें कीं नागवे
लोकीं येऊन जाणावें।

–'पागल नगा है या कपडे पहना है, इसका फैसला लोग करे। पागलको इसका भान नही।'

इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरणसबधी कर्म, विकर्मकी सहायतासे निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते स्वाभाविक हो जाते है। बडे-बडे विकट अवसर भी फिर मुश्किल नही मालूम होते। कर्मयोगकी यह ऐसी कुजी है। कुजी न हो तो तालेको तोडते-तोडते हाथोमे छाले पड जायँगे। परतु कुजी हाथ लग जानेपर पलभरमे सब-कुछ खुल जायगा। कर्मयोगकी इस कुजीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते है। यह कुजी मनोजयमे मिलती है। अत मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखाई दे, उन्हे धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मोकी झझट नही मालूम होती। कर्मका अहकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते है। क्लेशोका अनुभवतक नही होता। कमका भी भान बाकी नही रहता।

९ एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा–"अमुक सख्यामे राम-नामका जप करना है। तुम भी इसमे शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे।" वह बेचारा अपनी बुद्धिके अनुसार प्रयास कर रहा था। मै उसका दोष नही बता रहा हूँ। परतु राम-नाम कोई गिनतीकी चीज नही है। माँ बच्चेकी सेवा करती है, तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है? यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगे, तो 'थैंक यू' कहकर उसके ऋणसे बरी हो सकेगे। परतु माता रिपोर्ट नही लिखती। वह तो कहती है–"मैने क्या किया? मैने कुछ नही किया। यह क्या मेरे लिए कोई बोझ है?" विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उँडेलकर जब मनुष्य कर्म करता है, तब वह कर्म ही रहता नही, अकर्म हो जाता है। वहाँ क्लेश, कष्ट, झझट कुछ नही रहता।

१० इस स्थितिका वर्णन नही किया जा सकता। एक धुँधली-सी कल्पना करायी जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मनमे क्या कभी यह भाव आता है कि अब मै अन्धेरा मिटाऊँगा, पछियोको उडनेकी प्रेरणा दूँगा, लोगोको कर्म करनेमे प्रवृत्त करूँगा ? वह उगता है, खडा रहता है। उसका वह अस्तित्व ही विश्वको गति देता है। परतु सूर्यको उसका पता नही। आप यदि सूर्यसे कहेगे–"हे सूर्यदेव, आपके अनत उपकार है, आपने कितना अँधेरा दूर कर दिया !", तो वह चक्करमे पड जायगा। कहेगा–"जरा-सा अँधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मै दूर कर सका, तो कहूँगा कि यह मेरा कर्तृत्व है।" क्या सूर्यके पास अँधेरा ले जाया जा सकेगा ? सूर्यके अस्तित्वसे अन्धकार दूर होता होगा, उसके प्रकाशमे कोई सद्ग्रथ पढता होगा, तो कोई असद्ग्रन्थ भी पढता होगा, कोई आग लगाता होगा, तो कोई किसीका भला करता होगा। परतु इस पाप-पुण्यका जिम्मेदार सूर्य नही है। सूर्य कहता है–"प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा, तो फिर होगा क्या ? मै जानता ही नही कि मै प्रकाश दे रहा हूँ। मेरा होना ही प्रकाश हे। प्रकाश देनेकी क्रियाका कष्ट मै नही जानता। मुझे नही लगता कि मै कुछ कर रहा हूँ।"

सूर्यका यह प्रकाश-दान जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही हाल सतोका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी पुरुपसे कहे कि "आप महात्मा सत्यवादी है" तो वह कहेगा—"मै सत्यपर न चलूँ तो और करूँ क्या ? मै विशेप क्या करता हूँ ?" ज्ञानी पुरुषमे असत्यता हो ही नही सकती।

११ अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक और स्वाभाविक हो जाते है कि उनका आना-जाना मालूम ही नही पडता। इन्द्रियाँ उनकी सहज आदी हो जाती है। **सहज बोलणे हितउपदेश**। सहज बोलना ही हित उपदेश हो जाता है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुपके लिए सत्कर्म सहज हो जाते है। किलकिलाते रहना पक्षियोका सहज धर्म है। माँकी याद आना बच्चोका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना सतोका सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकड्-कूँ' करना मुर्गेका सहज धर्म है। स्वरोका ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनिने मुर्गेकी बाँगका उदाहरण दिया है। पाणिनिके समयसे आजतक मुर्गा सुबह बाँग देता है। पर क्या इसके लिए उसे किसीने मानपत्र अर्पित किया है ? मुर्गेका वह सहज धर्म है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका दोप न देखना, सबकी सेवा-शुश्रूपा करना आदि सत्पुरुपोके कर्म सहज रूपसे होते रहते है। उन्हे किये बिना वे जिन्दा नही रह सकते। किसीने भोजन किया,

तो क्या हम उसका गौरव करते है ? खाना, पीना, सोना जैसे सासारिकोके सहज कर्म हे, वैसे ही सेवा-कर्म ज्ञानियोके लिए सहज कर्म है। उपकार करना ज्ञानीका स्वभाव हो जाता है। ज्ञानी यदि कहे कि 'मै उपकार नही करूँगा', तो उसके लिए यह असभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुपका वह कर्म अकर्म-दशाको पहुँच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशाको 'सन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गयी हे। सन्यास ही परम धन्य अकर्म-दशा है। इस दशाको 'कर्म-योग' भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अत वह 'योग' है, परन्तु करते हुए भी कर रहा हे ऐसा नही लगता, इसलिए वही 'सन्यास' हे। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नही लगता, इसलिए वह योग' हे। और करके भी कुछ नही किया, इसलिए वह 'सन्यास' है।

१९. अकर्मका एक पहलू : योग

१२ 'सन्यास' की कल्पना क्या है ? कुछ कर्म छोडना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या ? नही। मूलत सन्यासकी व्याख्या ही हे—"सव कर्मोको छोडना।" सव कर्मोसे मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना, सन्यास है। परन्तु कर्म न करनेका अर्थ क्या ? कर्म वडी विचित्र वस्तु हे। सर्व-कर्म-सन्यास होगा कैसे ? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-वगल, सव ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, वैठे तो भी क्रिया ही हुई न ? 'वैठना' यह क्रिया-पद है। केवल व्याकरणकी दृष्टिसे ही वह क्रिया नही हुई, परतु सृष्टि-शास्त्रमे भी 'वैठना' क्रिया ही है। सतत वैठे रहनेमे पैर दुखने लगते हे। वैठनेमे भी श्रम तो है ही। जहाँ न करना भी कर्म सिद्ध होता है, वहाँ कर्म-सन्यास होगा भी कैसे ? भगवान्ने अर्जुनको विश्व-रूप दिखलाया। सर्वत्र फैला हुआ वह विश्वरूप देखकर अर्जुन डर गया और घवराकर उसने आँखे मूँद ली। परन्तु आँखे मूँदकर देखा, तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अव आँख मूँद लेनेपर भी जो दीखता है, उससे कैसे वचा जाय ? न करनेमे भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाय ?

१३ एक मनुष्यकी वात है। उसके पास सोनेके अनेक वहुमूल्य गहने थे। वह उन्हे एक वडे सदूकमे वद करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा वडा-सा लोहेका सदूक वनवा लाया। उसे देखकर उसने कहा—"तू कैसा वेवकूफ है रे गँवार ! तुझे सुन्दरताकी कोई कल्पना भी है क्या ? ऐसे वडे-कीमती जेवर रखना है, तो क्या भद्दे लोहेके सदूकमे रखे जायँगे ? जा, अच्छा सोनेका सन्दूक वनाकर ला।" नौकर सोनेका सन्दूक वनवा लाया। "अव ताला भी सोनेका ही ले आ। सोनेके सन्दूकमे सोनेका ही ताला फवेगा।" वह व्यक्ति गया था जेवरको छिपाने, उसे ढाँककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला ?

चोरोको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नही रही। सन्दूक उडाया और काम बना। साराश यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है, उसका सन्यास किया कैसे जाय ?

१४ ऐसे कर्मोका सन्यास करनेकी रीति ही यह है कि ऐसी युक्ति साधी जाय, जिससे दुनियाभरके कर्म करते हुए भी वे सब गलकर बह जायँ। जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते है कि 'सन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल जाना' यह बात आखिर है कैसी ? सूर्यके जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रातको भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्धमे काम करता रहता है। परतु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा भी कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नही करता। इसीलिए चौथे अध्यायमे भगवान् कहते है-"मैने यह योग पहले सूर्यको सिखाया। फिर विचार करनेवाले, मनन करनेवाले मनुने सूर्यसे इसे सीखा।" चौवीस घटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेश-मात्र कर्म नही करता। इसमे कोई सन्देह नही कि यह स्थिति सचमुच अद्भुत है।

२०. अकर्मका दूसरा पहलू : संन्यास

१५ परन्तु यह तो सन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कर्म करके भी नही करता, यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ। वह कुछ भी कर्म नही करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमे प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू है। उसमे अपरम्पार प्रेरक शक्ति है। अकर्मकी खूबी भी यही है। अकर्म-मे अनत कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भापका भी ऐसा ही है न ? भापको रोककर रखिये, वह कितना प्रचड कार्य करती है। उस रोकी हुई भापमे अपार शक्ति आ जाती है। वह बडे-बडे जहाज और रेलगाडियोको बात-की-बातमे खीच ले जाती है। सूर्यकी भी ऐसी ही बात है। वह लेशमात्र भी कर्म नही करता, परन्तु चौवीस घटे लगातार काम करता है। उससे पूछेगे तो वह कहेगा-"मै कुछ नही करता।" रात-दिन कर्म करते हुए न करना जैसे सूर्यका एक प्रकार हुआ, वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनत कर्म करना, यह दूसरा प्रकार हुआ। सन्यास इन दोनो प्रकारोसे विभूषित होता है। दोनो असाधारण है। एक प्रकारमे कर्म प्रकट है और अकर्मावस्था गुप्त है। दूसरे प्रकारमे अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है, परन्तु उसकी बदौलत अनत कर्म होते रहते है। इस अवस्थामे अकर्ममे कर्म लबालब भरा रहता है। इसलिए उससे प्रचड कार्य होता है। इस अवस्थाको प्राप्त मनुष्यमे और आलसीमे बडा अन्तर है। आलसी मनुष्य थकेगा, ऊबेगा। लेकिन यह अकर्मी

सन्यासी कर्म शक्तिको रोक रखता है। लेशमात्र भी कर्म नही करता। वह हाथ-पॉवसे, किसी इन्द्रियसे कोई कर्म नही करता। परतु कुछ न करते हुए भी वह अनत कर्म करता है।

१६ किसी मनुष्यको गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूलसे वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते है। वह चुप रहता है, बोलना छोड देता है। उसके न बोलनेका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचड परिणाम होता है! दूसरा फटाफट बोल देगा। दोनो है तो गुस्सेमे ही, परतु एक चुप है, दूसरा वड-वडाता है। दोनो है गुस्सेके ही प्रकार। न बोलना, यह भी क्रोधका ही एक रूप है। उससे भी कार्य होता है। मॉ या वापने वच्चेसे बोलना वन्द कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचड होता है! उस बोलनेके कर्मको छोड देनेसे, उस कर्मको न करनेसे ही इतना प्रचड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करनेपर भी उसका उतना परिणाम नही हो सकता था। उस अबोलका जो प्रभाव हुआ, वह बोलनेसे नही हो सकता। ज्ञानी पुरुषकी ऐसी ही स्थिति होती है। उसका अकर्म ही, उसका खामोश वैठना ही, प्रचण्ड कर्म करता है, प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता है कि वे सव क्रियाके द्वारा प्रकट ही नही हो सकते। इस तरह यह सन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे सन्यासीकी सारी प्रवृत्तियॉ, उसके सारे उद्योग एक आसनपर आकर वैठ जाते है।

> उद्योगाची धाव वैसली आसनीं
> पडिलें नारायणीं मोटळे हे।
> सकळ निश्चिती झाली हा भरवसा
> नाहीं गर्भवासा येणे ऐसा।
> आपुलिये सत्ते नाहीं आम्हा जिणें
> अभिमान तेणें नेला देवें।
> तुका म्हणे चळे एकाचिये सत्ते
> आपुले मी रितेपणें असें॥

['उद्योगकी भाग-दोड शात होकर आसनस्थ हो गयी है। नारायणके चरणोमे यह गठरी पडी है। मै पूर्णत निश्चिन्त हो गया हूँ। यह विश्वास हो गया है कि अव मेरा गर्भवास छूट गया। मै अव अपनी अहतासे नही जीता। भगवान्‌ने मेरा यह अभिमान छीन लिया है। तुकाराम कहता है कि अव सव उसकी ही सत्तासे चल रहा है। मै अव शून्य–रिक्त–वन गया हूँ।']

तुकाराम कहते है—"मै अव खाली हो गया हूँ। गठरी होकर पडा हूँ। सव उद्योग समाप्त हो गये।" तुकाराम खाली हो गये, परन्तु उस खाली वोरेमे प्रचण्ड प्रेरक शक्ति है। सूर्य स्वत आवाज नही लगाता, परन्तु उसके दीखते ही पछी उडने लगते है, मेमने नाचने लगते है, गाये वनमे चरने जाती है, व्यापारी दूकान खोलते है, किसान खेतपर जाते है, ससारके नाना व्यवहार शुरू हो जाते है। सूर्य केवल है। उतनेसे ही अनन्त कर्म शुरू हो जाते है। इस अकर्मावस्थामे अनन्त कर्मोकी प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरी रहती है। ऐसा यह सन्यासका दूसरा अद्भुत प्रकार है।

२१. दोनोंकी तुलना शब्दोसे परे

१७ पाँचवे अध्यायमे सन्यासके दो प्रकारोकी तुलना की गयी है। एक चौवीसो घटे कर्म करके भी कुछ नही करता और दूसरा क्षणभर भी कुछ न करके सव कुछ करता है। एक वोलकर न वोलनेका प्रकार, तो दूसरा न वोलकर वोलनेका प्रकार। इन दो प्रकारोकी यहाँ तुलना की गयी है। ये जो दो दिव्य प्रकार है, उनका अवलोकन करे, विचार करे, मनन करे। इसमे अपूर्व आनन्द है।

१८ यह विषय ही अपूर्व और उदात्त है। सचमुच सन्यासकी यह कल्पना वहुत ही पवित्र और भव्य है। जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना—पहले-पहल खोज निकाली, उसे जितने धन्यवाद दिये जायँ, थोडे है। यह वडी उज्ज्वल कल्पना है। मानवीय वुद्धिने, मानवीय विचारने अवतक जो ऊँची उडाने भरी है, उन सवमे ऊँची उडान इस सन्यासतक पहुँची है। इससे आगे अभीतक कोई उडान न भर सका। उडान भरना तो जारी है, परन्तु मुझे पता नही कि विचार और अनुभवमे इतनी ऊँची उडान किसीने भरी हो। इन दो प्रकारोसे युक्त सन्यासकी कोरी कल्पना ही आँखोके सामने आनेसे अपूर्व आनन्द होता है। किन्तु भाषा और व्यवहारके इस जगत्मे जव आते है, तव वह आनन्द कम हो जाता है। जान पडता है, नीचे गिर रहे है। मै अपने मित्रोसे इसके विषयमे हमेशा कहता रहता हूँ। आज कितने ही वर्षोसे मै इन दिव्य विचारोका मनन कर रहा हूँ। यहाँ भाषा अधूरी पडती है। शब्दोकी श्रेणीमे यह आता ही नही।

१९ न करके सव-कुछ कर डाला और सव-कुछ करके भी लेशमात्र नही किया—कितनी उदात्त, रसमय और काव्यमय कल्पना है यह! अव काव्य और क्या वाकी रहा? जो कुछ काव्यके नामसे प्रसिद्ध है, वह सव इस काव्यके आगे फीका है। इस कल्पनामे जो आनन्द, जो उत्साह, जो स्फूर्ति और जो

दिव्यता है, वह किसी भी काव्यमे नही। इस तरह यह पाचवॉ अध्याय ऊँची—बडी ऊँची—भूमिकापर प्रतिष्ठित किया गया है। चाये अध्यायतक कर्म, विकर्म बताकर यहाँ बहुत ही ऊँची उडान भरी है। यहाँ अकर्म-दशाके दो प्रकारोकी प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहाँ भाषा लडखडाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्मसन्यासी श्रेष्ठ? कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहना सम्भव ही नही है। सब करके भी कुछ न करना और कुछ भी न करते हुए सब-कुछ करना, ये दोनो योग ही है, परन्तु तुलनाके लिए एकको 'योग' कहा है, दूसरेको 'सन्यास'।

२२. भूमिति और मीमासकोका दृष्टान्त

२० अब इनकी तुलना कसे की जाय? इसके लिए उदाहरणोसे ही काम लेना पडेगा। जब उदाहरण देने जाते है, तो प्रतीत होता है, मानो नीचे गिर रहे है। परन्तु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिये तो पूर्ण कर्म-सन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग, ये कल्पनाएँ ऐसी है, जो इस शरीरमे नही समा सकती। वे इस देहको फोड डालेंगी। परन्तु जो महापुरुष इन कल्पनाओके नजदीकतक पहुँच गये है, उनके उदाहरणसे हमे काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले है, परन्तु थोडी देरके लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण है।

२१ रेखा-गणितमे कहते है कि 'कल्पना' करो, 'अ' 'ब' 'स' एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यो करे? क्योकि इस त्रिकोणकी रेखाएँ यथार्थ रेखाएँ नही है। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि उसमे लम्बाई है, पर चौडाई नही। श्यामपटपर बिना चौडाईके यह लम्बाई दिखायी कैसे जाय? लम्बाई जहाँ आयी, वहाँ चौडाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खीचेगे, उसमे कुछ-न-कुछ चौडाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमे रेखा 'माने' बिना काम ही नही चलता। भक्ति-शास्त्रमे क्या ऐसी ही बात नही है? वहाँ भी भक्त कहता है—"इस छोटी-सी शालग्रामकी बटियामे अखिल ब्रह्माडका स्वामी है, यह 'मानो'।" यदि कोई कहे—"यह क्या पागलपन है!" तो उससे कहो—"तुम्हारी यह भूमिति क्या पागलपन नही है? सर्वथा स्पष्ट मोटी रेखा दिखाई पडती है और कहते हो कि इसे बिना चौडाईकी मानो। यह कैसा पागलपन है! खुर्दबीनसे देखोगे, तो वह आधा इच चौडी दिखाई देगी।"

२२ "जैसे तुम अपनी भूमितिमे मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि इस शालग्राममे परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायगा, लगाऊँ एक चोट?" तो यह समझदारी नही कही जायगी, क्योकि जब भूमितिमे 'मानो'

चलता है, तो भक्ति-शास्त्रमे क्यो न चलना चाहिए ? बिन्दुको कहते है, 'मानो' और श्यामपटपर बिन्दु (प्रत्यक्ष) बनाते है। बिन्दु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिन्दुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी ही व्याख्या है। बिन्दुको न लम्बाई, न चौडाई, न मोटाई–कुछ भी नही। किन्तु व्याख्या ऐसी करते हुए उसे तख्तेपर बनाकर दिखाते है। बिन्दु तो वास्तवमे अस्तित्वमात्र है, त्रि-परिमाण-रहित है। साराश यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा बिन्दु व्याख्यामे ही रहता है, परन्तु हमे उसे मानकर चलना पडता है। भक्तिशास्त्रमे भी शालग्राममे न टूटने-फूटनेवाला सर्वव्यापी परमेश्वर मानना पडता है। हम भी ऐसे ही काल्प-निक दृष्टान्त लेकर इनकी तुलना करेगे।

२३ मीमासकोने तो एक बडा मजा ही किया है। परमेश्वर कहाँ है—इसकी मीमासा करते हुए उन्होने बडा सुन्दर निरूपण किया है। वेदोमे इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता है। इन देवताओका विचार मीमासामे करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है–"यह इन्द्र कैसा है ? इसका रूप कैसा है ? यह रहता कहाँ है ?" मीमासक उत्तर देते है–'इद्र' शब्द ही इद्रका रूप है। 'इद्र' शब्दमे ही वह रहता है। 'इ' और उसपर 'अनुस्वार', फिर 'द्र'–यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कैसे ? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुणका रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओके विषयमे समझिये। ये सारे देवता अक्षररूपधारी है। देवता सब अक्षर-मूर्ति है, इस कल्पनामे–इस विचारमे–बडी मिठास है। देवकी यह कल्पना किसी आकारमे न समाने जैसी है। उस कल्पनाको दर्शानेके लिए अक्षर यही एक चिह्न पर्याप्त होगा। ईश्वर कैसा है ? तो पहले 'ई', फिर 'श्व', फिर 'र'। आखिरमे 'ॐ' ने तो कमाल ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वरके लिए वह एक सज्ञा ही बना दी। ऐसी सज्ञाएँ बनानी पडती है, क्योकि मूर्तिमे–आकारमे–ये विशाल कल्पनाएँ समा ही नही सकती, परतु मनुष्यकी इच्छा बडी प्रचण्ड होती है। वह इन कल्पनाओको मूर्तिमे प्रविष्ट करनेका प्रयत्न करता ही है।

२३. संन्यासी और योगी एक ही : शुक-जनकवत्

२४ सन्यास और योग, ये बहुत ऊँची उडाने है। पूर्ण सन्यास और पूर्ण योगकी कल्पना इस देहमे नही समा सकती। भले ही देहमे ये ध्येय न समा सके, तो भी विचारमे जरूर समा जाते है। पूर्ण योगी और पूर्ण सन्यासी तो व्याख्यामे ही रहनेवाले है। वे ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेगे, परतु उदाहरणके तौरपर ऐसे व्यक्ति लेने होगे, जो इन कल्पनाओके अधिक-से-अधिक नजदीक

पहुँच पाये होगे। फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि इसे 'पूर्ण योगी' ओर इसे 'पूर्ण-सन्यासी' समझो। सन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते है। इधर कर्मयोगीके रूपमे जनक और श्रीकृष्णका नाम भगवद्गीतामे ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीतारहस्य' मे एक नामावली ही दे दी है। "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये, शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये।" परन्तु थोडा विचार करनेसे यह सूची उसी तरह मिटायी जा सकती है, जैसे भीगे हाथसे लिखा हुआ मिटाया जा सकता है। याज्ञवल्क्य सन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे। यानी सन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे, लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव सन्यासी हुए। याज्ञवल्क्यके शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक। सन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर सन्यासी—ऐसी यह मालिका बनती है। इस तरह योग और सन्यास एक ही परम्परामे आ जाते है।

२५ शुकदेवसे व्यासने कहा—"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परन्तु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुमपर नही लगी। इसलिए तुम जनकके पास जाओ।" शुकदेव चले। जनक तीसरी मजिलपर अपने दीवानखानेमे बैठे थे। शुक थे वनवासी। नगर देखते-देखते चले। जनकने शुकदेवसे पूछा—"क्यो आये ?" शुकने कहा—"ज्ञान पानेके लिए।" "किसने भेजा ?" "व्यासदेवने।" "कहाँसे आये ?" "आश्रमसे।" "आते हुए यहाँ बाजारमे क्या-क्या देखा ?" "चारो तरफ एक ही शकरकी मिठाई सजी हुई दिखाई दी।" "और क्या देखा ?" "चलते-बोलते शकरके पुतले देखे।" "फिर क्या देखा ?" "यहाँ आते हुए शकरकी सख्त सीढियाँ मिली।" "फिर क्या मिला ?" "शकरके चित्र यहाँ भी सर्वत्र देखे।" "अब क्या दीख रहा है ?" "शकरका एक पुतला शकरके दूसरे पुतलेसे बात कर रहा है।" जनकने कहा—"जाओ, तुम्हे सब ज्ञान मिल चुका।" शुकदेवको जनकके हस्ताक्षरका प्रमाणपत्र चाहिए था, वह मिल गया। मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने सन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमे पास किया।

शुक है सन्यासी, परन्तु प्रसग देखो कैसा मजेदार है! परीक्षितको शाप मिला—'सात दिनमे तुम मर जाओगे।' परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी। उसे ऐसा गुरु चाहिए था, जो यह सिखाये कि मरे कैसे। उसने शुकाचार्यको बुलाया। शुकाचार्य जो आकर बैठे, तो २४×७=१६८ घटे पलथी मारकर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया, सो फिर छोडा ही नही। लगातार कथा कहते ही रहे। आप कहेगे, 'इसमे कौन बडी बात है ?' बडी

बात यह कि सतत सात दिनतक उनसे भारी श्रम कराया गया, फिर भी उन्हे कुछ नही मालूम हुआ। सतत कर्म करते रहकर भी मानो वे कर्म कर ही नही रहे थे। श्रमकी भावना ही वहाँ नही थी। सार यह कि सन्यास और कर्मयोग, दोनो भिन्न है ही नही।

२६. इसलिए भगवान् कहते है–

एक सांख्य च योग च य पश्यति स पश्यति।

सन्यास और योगमे जो एकरूपता देखेगा, उसीने वास्तविक रहस्यको समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नही करता। जो सचमुच श्रेष्ठ सन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसे सन्यासी पुरुषको दस दिन हमारे-आपके बीच आकर रहने दो। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे मिलेगी। अनेक वर्षोतक कामका ढेर लगाकर भी जो नही हुआ होगा, वह केवल उसके दर्शनसे–अस्तित्वमात्रसे–हो जायगा। फोटो देखकर यदि मनमे पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोके चित्रोसे यदि भक्ति, प्रेम और पवित्रता हृदयमे उत्पन्न होती है, तो जीवित सन्यासीको देखनेसे कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी!

२७ सन्यासी और योगी, दोनो भी लोकसग्रह करते है। एक जगह बाहरसे कर्मत्याग दिखाई दिया, तो भी उस कर्मत्यागमे कर्म ठसाठस भरा हुआ है। उसमे अनत स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी सन्यासी, और ज्ञानी कर्मयोगी, दोनो एक ही सिहासनपर बैठनेवाले है। सज्ञा भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्वके ये दोनो पहलू या प्रकार है। यत्र जब वेगसे घूमता है, तो वह ऐसा दिखाई देता है मानो स्थिर है, घूम नही रहा है। सन्यासीकी भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शातिमेसे, स्थिरतामेसे अनत शक्ति, अपार प्रेरणा मिलती है। महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियाँ थी। सन्यासीके सभी उद्योगोकी दौड एक आसनपर आकर स्थिर हो जाय, तो भी वह प्रचड कर्म करता है। साराश यह कि योगी ही सन्यासी है और संन्यासी ही योगी है। दोनोमे कुछ भी भेद नही है। शब्द अलग-अलग हैं, पर अर्थ एक ही है। जैसे पत्थरके मानी पाषाण और पाषाण मानी पत्थर है, वैसे ही कर्मयोगीके मानी सन्यासी और सन्यासीके मानी कर्मयोगी है।

२४. फिर भी संन्याससे कर्मयोग विशेष माना गया है

२८ बात यद्यपि ऐसी है, तथापि भगवान्ने एक शून्य चढा ही दिया है। भगवान् कहते हैं–"सन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है।" जब दोनो ही एक-से है, तो

फिर भगवान् ऐसा क्यो कहते है ? इसमे क्या रहस्य है ? जब भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग श्रेष्ठ है, तब वे साधककी दृष्टिसे कहते है। बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए शक्य है, साधकके लिए नही। परतु सब कर्म करके भी कुछ न करना, इस तरीकेका थोडा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है, जो साधकके लिए शक्य नही, सिर्फ सिद्धके ही लिए शक्य है। दूसरी ऐसी है, जो साधकके लिए भी थोडी-बहुत शक्य है। बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म कैसे करना, यह साधकके लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझमे नही आ सकता। कर्मयोग साधकके लिए एक मार्ग भी है और मुकाम—पडाव—भी है, परतु सन्यास तो आखिरी मजिल-पर ही है, मार्गमे नही है। इसी कारण साधककी दृष्टिसे सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

२९ इसी न्यायसे भगवान्ने आगे बारहवे अध्यायमे निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष माना है। सगुणमे सब इन्द्रियोके लिए काम है, निर्गुणमे ऐसा नही है। निर्गुणमे हाथ बेकार, पॉव बेकार, ऑखे बेकार—सब इन्द्रियाँ कर्म-शून्य ही रहती है। साधकसे यह सब नही सध सकता। परन्तु सगुणमे ऐसी बात नहीं है। ऑखोसे रूप देख सकते है, कानोसे कीर्तन सुन सकते है, हाथोसे पूजा कर सकते है, लोगोकी सेवा कर सकते है, पॉवोसे तीर्थयात्रा हो सकती है। इस तरह सब इन्द्रियोको काम देकर उनसे वैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हे हरिमय बना देना सगुणमे शक्य रहता है। परन्तु निर्गुणमे यह सब बद—जीभ बद, कान बद, हाथ-पैर बद। यह सारा 'बदी' प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है। फिर उसके चित्तमे निर्गुण पैठेगा कैसे ? वह यदि खामोश बैठा रहेगा, तो उसके चित्तमे ऊटपटॉग विचार आने लगेगे। इन्द्रियोका यह स्वभाव ही है कि उन्हे कहते है कि न करो, तो वे जरूर करेगी। विज्ञापनोमे क्या ऐसा नही होता ? ऊपर लिखते है 'मत पढो।' तो पाठक मनमे कहता है कि यह जो न पढनेको लिखा है, तो पहले इसीको पढो। 'मत पढो' कहना इसी उद्देश्यसे होता है कि पाठक उसे जरूर पढे। मनुष्य अवश्य ही उसे ध्यानपूर्वक पढता है। निर्गुणमे मन भटकता रहेगा। सगुण भक्तिमे ऐसी बात नही। वहॉ आरती है, पूजा है, सेवा है, भूतदया है, इन्द्रियोके लिए वहॉ काम है। इन्ही इन्द्रियोको ठीक काममे लगाकर फिर मनसे कहो—"अब जाओ, जहॉ जी चाहे।" परन्तु तब मन नही जानेका। वही रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा। परन्तु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थानपर बैठाना चाहोगे, तो वह भागा ही समझो। भिन्न-भिन्न

इन्द्रियोको उत्तम, सुन्दर काममे लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकनेके लिए कह दो। वह नही भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो, तो वह कहेगा— "लो, मै यही बैठ गया।" यदि उसे हुक्म दिया कि "चुप बैठो" तो कहेगा, "मै यह चला।"

३० देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी अपेक्षा सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते हुए भी उसे उडा देनेकी युक्ति, कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योकि उसमे सुलभता है। कर्मयोगमे प्रयत्न–अभ्यास–के लिए जगह है। सब इन्द्रियोको अपने वशमे करके धीरे-धीरे सब उद्योगोसे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्मयोगमे किया जा सकता है। यह युक्ति आज न सधी, तो भी सधने जैसी है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही सन्यासकी अपेक्षा उसकी विशेषता है, परन्तु पूर्णावस्थामे कर्मयोग और सन्यास, दोनो समान ही है। पूर्ण सन्यास और पूर्ण कर्मयोग, दोनो एक ही है। नाम दो है, देखनेमे अलग-अलग है, परन्तु असलमे दोनो है एक ही। एक प्रकारमे कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परतु भीतर शाति है। दूसरे प्रकारमे कुछ न करते हुए त्रिभुवनको हिला डालनेकी शक्ति है। जो दीख पडता है, वह नही है-ये दोनोके स्वरूप है। पूर्ण कर्मयोग सन्यास है, तो पूर्ण सन्यास कर्म-योग है। कोई भेद नही, परन्तु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामे दोनो एक ही है।

३१ ज्ञानदेवको चागदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरे कागजका पत्र था। चागदेवसे ज्ञानदेव उम्रमे छोटे थे। 'चिरजीव' लिखते है, तो ज्ञानदेव ज्ञानमे श्रेष्ठ। 'पूज्य' लिखते है, तो उम्रमे कम। तब सिरनामा क्या लिखे ?— यह कुछ निश्चय नही हो पाता था। अत चागदेवने कोरा कागज ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमे पडा। उन्होने उसे पढकर ज्ञानदेवको दे दिया। ज्ञानदेवने पढा और मुक्ताबाईको दे दिया। मुक्ताबाईने पढकर कहा— "चागदेव इतना बडा हो गया है, पर है अभी कोरा का-कोरा ही।" निवृत्ति-नाथने और ही अर्थ पढा था। उन्होने कहा—"चागदेव कोरे है, शुद्ध है, निर्मल है, उपदेश देनेके योग्य।" फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा। ज्ञानदेवने ६५ ओवियो† का पत्र भेजा। उसे 'चागदेव-पासष्टी' कहते है। ऐसी इस पत्रकी मनोरजक कथा है। लिखा हुआ पटना सरल है, परन्तु न लिखा

† एक प्रचलित मराठी छन्द।

हुआ पढना कठिन। उसका पढना कभी समाप्त नही होता। इसी तरह सन्यासी रीता–कोरा–दिखाई दे, तो भी उसमे अपरपार कर्म भरा रहता है।

३२ सन्यास और कर्मयोग पूर्ण रूपमे दोनोकी कीमत एक-सी है, परतु कर्मयोगकी व्यावहारिक कीमत और ज्यादा है। किसी एक नोटकी कीमत पॉच रुपये है। सोनेका सिक्का भी पॉच रुपयेका होता है। जवतक सरकार स्थिर है, तवतक दोनोकी कीमत एक-सी है, परन्तु यदि सरकार वदल गयी, तो फिर व्यवहारमे उस नोटकी कीमत एक पाई भी नही रहती। मगर सोनेके सिक्केकी कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायगी, क्योकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्थामे कर्मत्याग और कर्मयोग, दोनोकी कीमत एक-सी है, क्योकि ज्ञान दोनोमे समान रहता है। ज्ञानकी कीमत अनत है। अनतमे कुछ भी मिलाओ, कीमत अनत ही रहती है, गणितशास्त्रका यह सिद्धान्त है। कर्म-त्याग और कर्मयोग जव परिपूर्ण ज्ञानमे मिल जाते है, तो दोनोकी कीमत वरावर हो जाती है, परतु ज्ञानको यदि दोनो ओरसे हटा लिया, तो फिर कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस, शुद्ध ज्ञान दोनो ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है। मजिलपर पहुँच जानेपर ज्ञान + कर्म = ज्ञान + कर्माभाव। परतु ज्ञानको दोनो ओरसे घटा दीजिये, तो फिर कर्मके अभावकी अपेक्षा कर्म ही साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधकको समझमे ही नही आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्गमे भी है और मुकामपर भी है, परतु सन्यास सिर्फ मुकामपर ही है, मार्गमे नही। यदि यही वात शास्त्रकी भाषामे कहनी हो, तो कर्मयोग साधन भी है और निष्ठा भी, परतु सन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठाका अर्थ है, अतिम अवस्था।

रविवार, २०-३-'३२

चित्तवृत्ति-निरोध | ६

२५. आत्मोद्धारकी आकांक्षा

१ पॉचवे अध्यायमे हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्य-की ऊँची-से-ऊँची उडान कहॉतक जा सकती है। कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करें,

उसमे हमारे मनका सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म करना पडता है, वह विकर्म, विशेष कर्म अथवा सूक्ष्म कर्म है। आवश्यकता कर्म और विकर्म, दोनोकी है। इन दोनोका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्यायमे देख लिया कि इस भूमिकामे कर्म और सन्यास, दोनो एकरूप ही हो जाते है। अब छठे अध्यायके आरम्भमे फिर कहा है कि कर्मयोगकी भूमिका सन्यासकी भूमिकासे अलग दिखाई देनेपर भी अक्षरश एकरूप है। केवल दृष्टिका अन्तर है। पाँचवे अध्यायमे जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है, उसके साधन खोजना, यह बादके अध्यायोका विषय है।

२ कई लोगोकी ऐसी एक भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रन्थ साधुओके लिए है। एक गृहस्थने कहा—"मै कोई साधु नही हूँ।" इसका अर्थ यह हुआ कि 'साधु' नामके कोई प्राणी है, जिनमेसे वे नही है। जैसे घोडे, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी है, वैसे ही साधु नामके भी कोई प्राणी है और परमार्थकी कल्पना केवल उन्हीके लिए है। शेष जो व्यावहारिक जगत्मे रहते हैं, वे मानो किसी और जातिके है। उनके विचार अलग, आचार अलग! इस कल्पनाने साधु-सत और व्यावहारिक लोग, ऐसी दो अलग-अलग जातियाँ बना दी है। 'गीतारहस्य' मे तिलक महाराजने इस बातकी ओर ध्यान खीचा है। 'गीता-ग्रन्थ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोके लिए है', यह उनका कथन मै अक्षरश सही मानता हूँ। भगवद्गीता सारे ससारके लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मनका समाधान और शाति कैसे प्राप्त की जाय। व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय, यह सिखानेके लिए गीता है। जहाँ-जहाँ आप व्यवहार करते हैं, वहाँ-वहाँ गीता आती है। परन्तु वह आपको वहाँ-की-वहाँ रखना नही चाहती। आपका हाथ पकडकर वह अतिम मजिलतक आपको ले जायगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'पर्वत यदि मुहम्मदके पास न आये, तो मुहम्मद पर्वतके पास जायगा।' मुहम्मदको यह चिता है कि मेरा सदेश जड पर्वततक भी पहुँचे। पर्वत जड है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नही जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रथकी है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, कैसे गँवार हो, गीता उसके पास पहुँच जायगी। परतु इसलिए नही कि उसे यथास्थान रहने दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकड़कर आगे ले जाय, ऊपर उठाये। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीता है।

३ अतएव 'मै जड हूँ, व्यवहारी हूँ, सासारिक जीव हूँ'–ऐसा कहकर अपने आसपास वाड मत लगाओ। मत कहो कि 'मेरे हाथोसे क्या होगा ? इस साढे तीन हाथके शरीरमे ही मेरा सार-सर्वस्व है।' ऐसी बधनोकी या कारागृह जैसी दीवारे अपने आसपास खडी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढनेकी, ऊपर चढनेकी हिम्मत रखो।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नाऽऽत्मानमवसादयेत्।

ऐसी हिम्मत रखो कि मै अपनेको अवश्य ऊपर चढा ले जाऊँगा। यह मानकर कि मैं क्षुद्र सासारिक जीव हूँ, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पख काटो मत। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ। चडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रात काल सूर्यको देखकर चडूल कहता है कि मै सूर्यतक उड जाऊँगा। वैसा ही हमे बनना चाहिए। अपने दुर्बल पखोसे चडूल बेचारा कितना ही ऊँचा उडे, तो भी वह सूर्यतक कैसे पहुँचेगा ? परतु अपनी कल्पना-शक्तिद्वारा वह सूर्यको अवश्य पा सकता है। हमारा आचरण उससे उलटा होता है। हम जितने ऊँचे जा सकते थे, उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओपर प्रतिबन्ध लगाकर अपने-आपको नीचे गिरा लेते हे। जो शक्ति प्राप्त है, उसे भी अपनी हीन-भावनासे नष्ट कर लेते हे। जहाँ कल्पनाके ही पाँव टूट गये, वहाँ फिर नीचे गिरनेके सिवा क्या गति होगी ? अत कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढता है, अत कल्पनाको सिकोड़ मत डालो।

घोपटमार्गा सोडु नको।
ससारामधि ऐस आपुला उगा च भटकत फिरू नको।

–'घिसे-पिटे मार्गको मत छोडो। ससारमे अपनी जगह चुपचाप पडे रहो। इधर-उधर व्यर्थ भटका मत करो।'–ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्माका अपमान मत कर लो। साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा, तभी वह टिक सकेगा। इसीसे उद्धार होगा। परतु 'धर्म तो साधु-सतोके लिए ही है', साधु-सतोके पास गये भी, तो उनसे यह प्रशस्ति पत्र लेनेके लिए कि 'तुम जिस स्थितिमे हो, उसमे यही व्यवहार उचित है'—ऐसी कल्पना छोड दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाएँ करके अपनेको बधनमे मत डालो। यदि उच्च आकाक्षा नही रखोगे, तो कभी भी एक कदम आगे नही बढ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकाक्षा, यह महान् भावना यदि हो, तब तो साधनो

उठा-पटक आवश्यक है; नही तो फिर सारा किस्सा ही समाप्त। वाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधनरूपी विकर्म वताया है। कर्मकी सहायताके लिए विकर्म निरन्तर चाहिए। इन दोनोकी सहायतासे अकर्मकी जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है, वह और उसके प्रकार पाँचवे अध्यायमे देखे। इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार वताये गये हैं। मानसिक साधना वतायी गयी है। इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है–

"हे मेरे जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकाक्षा रखो, मनको मुक्त रखकर उसके पखोको सुदृढ वनाओ।" साधनके–विकर्मके–भिन्न-भिन्न प्रकार है। भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार है।

छठे अध्यायमे 'ध्यान-योग' नामक साधनाका प्रकार वताया गया है।

२६. चित्तकी एकाग्रता

४. ध्यान-योगमे तीन वाते मुख्य है–(१) चित्तकी एकाग्रता, (२) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (३) साम्यदशा या सम-दृष्टि। इन तीन वातोके विना सच्ची साधना नही हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है, चित्तकी चचलतापर अकुश। जीवनकी परिमितताका अर्थ है, सब क्रियाओका नपा-तुला होना। सम-दृष्टिका अर्थ है, विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि। इन तीन बातोंसे ध्यान-योग वनता है। इस त्रिविध साधनाके भी साधन हैं। वे है—अभ्यास और वैराग्य। इन पाँचो वातोकी थोड़ी-सी चर्चा हम यहाँ करें।

५ पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिये। किसी भी काममे चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक वातोमे भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए। यह वात नही कि व्यवहारमे अलग गुणोकी जरूरत है और परमार्थमे अलग। व्यव-हारोको शुद्ध करनेका ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसका यश और अपयश आपकी एकाग्रतापर अवलविन है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति–किसीको भी ले लीजिये, इनमे जो कुछ यश मिलेगा, वह उन-उन पुरुषोके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगा। नेपो-लियनके लिए कहा जाता है कि वह युद्धकी व्यवस्था जहाँ एक वार ठीक-ठीक लगा देता कि फिर समर-भूमिमे गणितके सिद्धान्त हल किया करता था। डेरो-तवुओंपर गोले वरसते, सैनिक मरते, परतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमे ही मग्न रहता। मै यह नही कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता वहुत वड़ी थी।

उसमे भी ऊँचे दर्जेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेगे। परतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी, यह देखो। खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लडाईमे जब नमाजका वक्त हो जाता, तो वह वही समर-भूमिमे चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी न रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे है। पहले मुसलमानोकी इस परमेश्वर-निष्ठाके ही कारण, इस एका-ग्रताके ही कारण, इसलाम धर्म फैल पाया।

६ उस दिन मैने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीरमे तीर घुस गया। इससे उसे बडी वेदना हो रही थी। तीर खीचनेकी चेष्टा करने जायँ, तो हाथ लगाते ही वेदना और बढ जाती थी। इससे वह तीर भी नही खीचा जा सकता था। आजकी तरह क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नही। बडी समस्या खडी हो गयी। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे आकर बोले–"तीर अभी मत निकालो। यह फकीर नमाज पढने बैठेगा, तब निकाल लेगे।" शामको नमाजका वक्त हुआ। फकीर नमाज पढने लगा। पलभरमे ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया गया, तो भी उसे पता नही लगा। कैसी जबर्दस्त है यह एकाग्रता!

७ साराश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके बिना उसमे सफलता मिलना कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा, तो फिर सामर्थ्य-की कभी कमी न पडेगी। साठ वर्षके बूढे होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममे उत्साह और सामर्थ्य दीख पडेगी। मनुष्य ज्यो-ज्यो बुढापेकी तरफ जाय, त्यो-त्यो उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फलको ही देखिये न! पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सडता है, गलता है और मिट जाता है, परतु उसका भीतरका बीज उत्तरोत्तर कडा होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड जायगा, गिर जायगा, परतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नही है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढा होता चला जाय, परतु स्मरण-शक्ति तो बढती ही रहनी चाहिए। बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परतु ऐसा होता नही। मनुष्य कहता है–"आजकल मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है।" "क्यो ?" "अब बुढापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर बूढा होनेसे ज्यो-ज्यो ढीला पडता जाय, त्यो-त्यो आत्मा बलवान् होती जानी चाहिए। इसके लिए एकाग्रता आवश्यक है।

२७. एकाग्रता कैसे साधें ?

८ अब एकाग्रता तो चाहिए, पर वह हो कैसे ? उसके लिए क्या करना चाहिए ? भगवान् कहते हैं, आत्मामें मनको स्थिर करके न किञ्चिदपि चिन्तयेत्—दूसरा कुछ भी चिंतन न करे।

परंतु यह सधे कैसे ? मनको बिलकुल शांत करना बड़े महत्त्वकी बात है। विचारोंके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता होगी कैसे ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय, परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाते है, वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते है। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइये, आँखें स्थिर कर लीजिये। परन्तु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बंद करना सधना चाहिए।

९ बात यह है कि बाहरका यह अपरंपार संसार, जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रताका सधना अशक्य है। अपनी आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्च कर डालते है, लेकिन ऐसा नही होना चाहिए। जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए स्वयं अपने प्रयत्नसे धनी हो जानेवाला पुरुष आवश्यकताके बिना खर्च नहीं करता, उसी तरह हमें भी अपनी आत्माकी ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नहीं करनी चाहिए। यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परन्तु हम उसे स्थूल विषयोंमें खर्च कर डालते है। यह साग अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा! अरे भाई, कितनी रत्ती नमक कम पड़ा ? नमक तनिक-सा कम पड़ा, इस महान् विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है! बच्चोंको पाठशालाकी चहारदीवारीके अन्दर ही पढ़ाते है। कहते हैं कि यदि पेड़के नीचे पढ़ायेंगे, तो कौए, कोयल और चिड़िया देखकर उनका मन एकाग्र नहीं होगा। बच्चे ही जो ठहरे! कौए-चिड़ियाँ नहीं दिखी, तो हो गयी उनकी एकाग्रता! परन्तु हम हो गये है घोड़े! हमारे अब सींग निकल आये है। हमें सात-सात दीवालोंके भीतर भी किसीने बन्द कर रखा, तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती। क्योंकि, दुनियाकी छोटी-से-छोटी बातोंकी चर्चा हम करेंगे। जो ज्ञान परमेश्वर-की प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमें ही खो देते है और उसमें कृतार्थता मानते है।

१०. दिन-रात ऐसा भयानक संसार हमारे चारों ओर, भीतर-बाहर धू-धू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है। परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए तो संसारको भुला दें!

लेकिन यह भावना ही नही रहती। प्रार्थना भी एक दिखावा होता है। जहाँ मनकी ऐसी स्थिति है, वहाँ आसन जमाकर बैठना और आँख मूँदना, सब व्यर्थ है। मनकी दौड निरन्तर बाहरकी ओर रहनेसे मनुष्यकी सारी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। किसी भी प्रकारको व्यवस्था, नियन्त्रण-शक्ति मनुष्यमे नही रहती। इसका अनुभव आज हमारे देशमे पग-पगपर हो रहा है। वास्तवमे भारतवर्ष तो परमार्थ-भूमि है। यहाँके लोग पहले ही ऊँची हवामे उडनेवाले समझे जाते हैं, पर ऐसे देशमे हमारी-आपकी क्या दशा है? छोटी-छोटी बातोका इतना सूक्ष्म चिन्तन करते है कि जिसे देखकर दु ख होता है। क्षुद्र विषयोमे ही हमारा चित्त डूबा रहता है।

कथा पुराण ऐकता। झोपें नाडिलें तत्त्वता।
खाटेवरी पडता। व्यापी चिता तळमळ।
ऐसी गहन कर्मगति। काय तयासी रडती॥

—'कथा-पुराण श्रवण करने जाते है, तो निद्रा सताती है और बिस्तरपर लेटते है, तो चिन्ता और बेचैनी रहती है। ऐसी कर्मकी गहन गति है। क्या किया जाय?'

कथा-पुराण सुननेके लिए जाते है, तो वहाँ नीद आ घेरती है और नीद लेने जाते है, तो वहाँ चिन्ता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता, तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रताका कही पता नही। मनुष्य इन्द्रियोका इतना गुलाम है। एक बार किसीने पूछा—"आँखे अधमुँदी रखनी चाहिए, ऐसा क्यो कहा गया है?" मैने कहा—"सीधा-सादा उत्तर देता हूँ। आँखे पूरी मूँद ले, तो नीद आ जाती है। खुली रखे, तो चारो ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नही होती। आँखे मूँदनेसे नीद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखनेसे दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण हुआ। इसलिए बीचकी स्थिति कही है।"

तात्पर्य यह है कि मनकी स्थिति बदले बिना एकाग्रता नही हो सकती। मनकी स्थिति शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठनेमे वह प्राप्त नही हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासना-तृप्तिके लिए अथवा बाहरी बातोके लिए नही करना चाहिए।

११ व्यवहार तो हम दिनभर करते रहते है। आखिर दिनभरकी इस खटपटका हेतु क्या है?

याजसाठीं केला होता अट्टहास ।
शेवटचा दीस गोड व्हावा ॥

—'यह सारा परिश्रम इसीलिए तो किया था कि अन्तकी घडी मीठी हो।'

सारी खटपट, सारी दौड-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाय ? जिन्दगीभर कडुआ विष क्यों पचाते हैं ? इसीलिए कि अंतिम घडी, वह मरण, पवित्र हो जाय। दिनकी अंतिम घडी शामको आती है। आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भावसे किया होगा, तो रातकी प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया, तो दिनका सारा काम सफल हुआ समझो। तब मन एकाग्र हो जायगा।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धि आवश्यक है। बाह्य वस्तुओंका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नहीं है। परन्तु इस थोडी-सी आयुमें भी परमेश्वरीय सुखका स्वाद लेनेकी सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही साँचेमें ढले, एक-सी छाप लगे हुए, दो आँखें, उनके बीच एक नाक और उस नाकमें दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एक-से होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है, तो दूसरा पशु तुल्य। ऐसा क्यों होता है ? एक ही परमेश्वरके बाल-बच्चे हैं, **अवघी एकाची च वीण।** 'सब एक ही खानिके।' तो फिर यह फर्क क्यों पड़ता है ? इन दो व्यक्तियोंकी जाति एक है, ऐसा विश्वास नहीं होता। एक नरका नारायण है, तो दूसरा नरका वानर !

१२ मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग पहले भी हो गये हैं और आज भी हमारे बीच हैं। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमें कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले सन्त पहले हो गये हैं और आज भी हैं। इस देहमें रहकर यदि मनुष्य ऐसी महान् करनी कर सकता है, तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूँगा ? मैं अपनी कल्पनाको मर्यादामें क्यों बाँध लूँ ? जिस नर-देहमें रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिली है, फिर मैं ऐसा क्यों ? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखनेमें वह बहुत आगे बढ गया है। परन्तु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है ?

कासया गुणदोष पाहूं आणिकांचे ।
मज काय त्यांचें उणें असे ॥

—'दूसरोंके गुण-दोष क्यों देखूँ ? मुझमें क्या उनकी कमी है ?'

खुद मुझमे क्या दोप कम है ? यदि मै सदैव दूसरोकी छोटी-छोटी बाते देखनेमे ही तल्लीन रहा, तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता सधेगी कैसे ? उस दशामे मेरी स्थिति दो ही प्रकारकी हो सकती है। एक तो शून्य अवस्था अर्थात् नीद, और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमे ही मै उलझता रहूँगा।

भगवान्ने चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आँखे रखो, इस तरह आसन जमाओ आदि सूचनाएँ नही दी, ऐसी बात नही है। परतु इन सबसे लाभ तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हो। मनुष्यके चित्तमे पहले यह जम जाय कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य स्वत ही उसकी साधना और मार्ग ढूँढ निकालेगा।

२८. जीवनकी परिमितता

१३ चित्तकी एकाग्रतामे सहायक दूसरी बात है, जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओमे आ जाना चाहिए। औपधि जैसे नाप-तौलकर ली जाती है, वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। सब जगह नाप-तौल चाहिए। प्रत्येक इन्द्रियपर पहरा बैठाना चाहिए। मै ज्यादा तो नही खाता, अधिक तो नही सोता, जरूरतसे ज्यादा तो नही देखता—इस प्रकार सतत बारीकीसे जाँच करते रहना चाहिए।

१४ एक भाई किसी व्यक्तिके बारेमे कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमे जाते, तो एक मिनटमे उनकी निगाहमे आ जाता था कि उसमे कहाँ क्या रखा है। मैने मनमे कहा—"भगवन्, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।" क्या मै उसका सचिव हूँ, जो पाँच-पचीस चीजोकी सूची मनमे रखूँ ? या मुझे चोरी करनी है ? साबुन यहाँ था, घडी वहाँ थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरूरत ? आँखोका यह वाहियातपन मुझे छोड देना चाहिए। यही बात कानकी है। कानपर भी पहरा रखो। कुछ लोग ऐसा मानते है कि 'यदि कुत्तोकी तरह हमारे कान होते, तो कितना अच्छा होता ! जिधर चाहते, उधर एक क्षणमे उन्हे हिलाया करते। मनुष्यके कानमे परमात्माने यह कसर ही रख दी !' परतु कानका यह वाहियातपन हमे नही चाहिए। वैसे ही यह मन भी जबर्दस्त है। जरा कही खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान।

१५ अत जीवनमे नियमन और परिमितता लाये। खराब चीज न देखे। खराब किताब न पढे। निन्दा-स्तुति न सुने। सदोप वस्तु तो दूर, निर्दोप वस्तुओका भी आवश्यकतासे अधिक सेवन न करे। लोलुपता किसी भी प्रकार-

को न होनी चाहिए। शराब, पकौडी, रसगुल्ले तो होने ही नही चाहिए, परन्तु सन्तरे, केले, मोसम्बी भी बहुत नही चाहिए। फलाहार यो शुद्ध आहार है, परन्तु वह भी मनमाना नही होना चाहिए। जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन नही करना चाहिए। इन्द्रियोको यह भय रहे कि यदि हम ऊटपटॉग करेगे, तो भीतरका मालिक हमे जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही 'जीवनकी परिमितता' कहते है।

२९. मंगल-दृष्टि

१६ तीसरी बात है, समदृष्टि होना। समदृष्टिका अर्थ ही है—शुभदृष्टि। शुभदृष्टि प्राप्त हुए विना चित्त एकाग्र नही हो सकता। सिह इतना बडा वनराज है, परन्तु चार कदम चलकर पीछे देखता है। हिसक सिहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौए, बिल्ली, इनकी ऑखे हमेशा फिरती रहती है। उनकी निगाह चौकन्नी, घबरायी हुई होती है। हिंस्र प्राणियोका ऐसा ही हाल रहेगा। साम्यदृष्टि आनी चाहिए। यह सारी सृष्टि मगलमय लगनी चाहिए। जैसे मुझे खुद अपनेपर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टिपर मेरा विश्वास होना चाहिए।

१७ यहॉ डरनेकी बात ही क्या है ? सब-कुछ शुद्ध और पवित्र है।

विश्व तद् भद्र यदवन्ति देवा ।

—यह विश्व मगलमय है, क्योकि परमेश्वर उसकी सार-सँभाल करता है। अग्रेज कवि ब्राउनिगने भी ऐसा ही कहा है—

"ईश्वर आकाशमे विराजमान है और सारा विश्व ठीक ही चल रहा है।"

विश्वमे कुछ भी बिगाड नही है। अगर बिगाड कही है, तो वह है मेरी दृष्टिमे। जैसी मेरी दृष्टि, वैसी सृष्टि। यदि मै लाल रगका चश्मा चढा लूँगा, तो सारी सृष्टि लाल-ही-लाल दिखाई देगी, जलती हुई दिखाई देगी।

१८. रामदास रामायण लिखते जाते और शिष्योको पढकर सुनाते जाते थे। हनुमान् भी गुप्त रूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थ रामदासने लिखा था—"हनुमान् अशोक वनमे गये। वहॉ उन्होने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहॉ झटसे हनुमान् प्रकट हो गये और बोले—"मैने सफेद फूल बिलकुल नही देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थने कहा—"मैने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे।" हनुमान्ने कहा—"मै स्वत वहॉ गया था और मै ही झूठा ?" अन्तमे झगडा रामचन्द्र-

जीके पास गया। उन्होने कहा—"फूल तो सफेद ही थे, परन्तु हनुमान्की आँखे क्रोधसे लाल हो रही थी, इसलिए शुभ्र फूल उन्हे लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथाका आशय यही है कि ससारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, ससार भी हमे वैसा ही दिखाई देगा।

१९ यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है, तो चित्तकी एकाग्रता नही हो सकती। जबतक मै यह समझता रहूँगा कि सृष्टि बिगडी हुई है, तबतक मै सशक दृष्टिसे चारो ओर देखता रहूँगा। कवि पक्षियोकी स्वतन्त्रताके गीत गाते है। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पक्षी होकर देखो तो! फिर उनकी आजादीकी सही कीमत मालूम हो जायगी। पक्षियोकी गर्दन बराबर आगे-पीछे सतत नाचती रहती है। उन्हे सतत दूसरोका भय लगा रहता है। चिडियाको आसनपर ला बिठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायगी? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्रसे उड जायगी। वह डरेगी कि कही यह मुझे मारने तो नही आ रहा है! जिनके दिमागमे ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है, सहारक है, उन्हे शान्ति कहाँ? जबतक यह खयाल दिमागसे न निकलेगा कि अपना रक्षक मै अकेला ही हूँ, बाकी सब भक्षक है, तबतक एकाग्रता नही सध सकती। समदृष्टिकी भावना करना, यही एकाग्रताका उत्तम मार्ग है। आप सर्वत्र मागल्य देखने लग जाइये, चित्त अपने-आप शान्त हो जायगा।

२० किसी दु खी मनुष्यको कल-कल बहनेवाली नदीके किनारे ले जाइये। उसके स्वच्छ-शात प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी। वह अपना दु ख भूल जायगा। उस झरनेमे, उस प्रवाहमे इतनी शक्ति कहाँ से आ गयी? परमेश्वरकी शुभ शक्ति उसमे प्रकट हुई है। वेदोमे झरनोका बडा ही सुन्दर वर्णन है—

अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्।

ऐसे ये झरने है। झरना अखड बहता है। उसका अपना कोई घर-बार नही। वह सन्यासी है। ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमे मेरे मनको एकाग्र बना देता है। ऐसे सुन्दर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका झरना मेरे मनमे मै क्या न निर्माण करूँ?

२१ यह बाहरका जड पानी भी यदि मेरे मनको शान्ति प्रदान कर सकता है, तो फिर मेरी मानस-दरीमे यदि भक्ति और ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे, तो कितनी शान्ति प्राप्त होगी!

मेरे एक मित्र हिमालयमे, कश्मीरमे, घूम रहे थे। वहाँके पवित्र पर्वतोके, सुन्दर जल-प्रवाहोके वर्णन वे लिख-लिखकर मुझे भेजते थे। मैने उन्हे उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुम्हे वहाँ अनुपम आनन्द देते है, उन सबका अनुभव मै अपने हृदयमे करता हूँ। अपनी अन्त-सृष्टिमे मै नित्य उन सब रमणीय दृश्योको देखता हूँ। अत तुम्हारे बुलानेपर भी मै अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोडकर नही आऊँगा।

स्थावराणा हिमालय.।

स्थिरताकी मूर्तिके रूपमे जिस हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है, उसका वर्णन सुनकर यदि मैने अपना कर्तव्य छोड दिया तो उससे क्या लाभ ?

२२ साराश, चित्तको जरा शान्त कीजिये। सृष्टिकी ओर मगलदृष्टिसे देखिये, तो फिर आपके हृदयमे अनत झरने बहने लगेगे। कल्पनाओके दिव्य तारे हृदयाकाशमे चमकने लगेगे। पत्थर और मिट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शात हो जाता है, तो फिर अत सृष्टिके दृश्य देखकर वह शान्त क्यो न होगा ?

एक बार मै त्रावणकोर गया था। एक दिन समुद्र-किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी धू-धू गर्जना, सायकालका समय। मै स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे मित्रने वही समुद्र-किनारे कुछ फल वगैरह खानेके लिए ला दिये। उस समय वह सात्त्विक आहार भी मुझे विषकी तरह लगा। समुद्रकी वह ॐ ॐ गर्जना मुझे **मामनुस्मर युद्धच च**—इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आयी, वह गयी और दूसरी आयी। उसे एक क्षणके लिए विश्राति नही। यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड गयी थी। आखिर उस समुद्रमे ऐसा क्या था ? उस खारे पानीकी लहरोको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है, तो फिर ज्ञान और प्रेमके अथाह सागरके हृदयमे हिलोरे मारनेपर मै कैसा नाच उठूँगा! वैदिक ऋषिके हृदयमे ऐसा ही समुद्र हिलोरे मारता था—

अत समुद्रे हृदि अतरायुषि
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
समुद्रादूर्मिर्मधु मानुदारत्।

इस दिव्य भाषापर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोकी भी फजीहत होनेकी नौबत आ गयी। कैसी वह घृतकी धारा! कैसी वह मधुकी धारा! मेरे हृदयमे दूध, मधु और घीकी लहरे हिलोरे मार रही है।

३०. बालक गुरु

२३ हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखिये। बाहरके निरभ्र नील आकाश-को देखकर चित्तको भी निर्लेप और निर्मल बनाइये। सच पूछो, तो चित्तकी एकाग्रता एक खेल है, मामूली बात है। चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है। छोटे बच्चोकी आँखोकी ओर एकटक होकर देखो। छोटा बच्चा टकटकी लगाकर देखता है, लेकिन तुम दस बार पल्क गिराओगे। बच्चोका मन तुरत एकाग्र हो जाता है। चार-पाँच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह सतत देखता रहेगा। स्त्रियोकी तो ऐसी मान्यता है कि बाहर-की हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रगकी हो जाती है। मानो सब इन्द्रियोकी आँखे बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मनपर किसी भी घटनाका बडा प्रभाव पडता है। शिक्षाशास्त्री कहते है–"शुरूके दो-चार सालोमे जो शिक्षा बालकोको मिल जाती है, वही वास्तविक शिक्षा है।" आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, सघ कायम कीजिये, शुरूमे जो शिक्षा मिली है, वह फिर कभी नही मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा सबध है। दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता चल रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरभिक सस्कार वज्रलेप हो जाते है। बादके शिक्षणको बाहरी रग, ऊपरी झिल्ली समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल जाता है, परन्तु चमडीका काला रग कैसे चला जायगा? उसी तरह शुरूमे जो सस्कार पड जाता है, उसका मिटना कठिन हो जाता है।

तो ये शुरूके सस्कार बलवान् क्यो? बादके सस्कार कमजोर क्यो? इस-लिए कि बचपनमे चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो सस्कार पडते है, वे फिर नही मिटते। चित्तकी एकाग्रताकी ऐसी महिमा है। जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गयी, उसके लिए क्या अशक्य है?

२४ हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है। हमारी बालवृत्ति मर गयी है, नष्ट हो गयी है। जीवनमे वास्तविक सरसता नही। वह शुष्क हो गया है। हम ऊटपटाँग, जैसे-तैसे चल रहे है। डार्विन साहब नही, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे है कि मनुष्यके पूर्वज बदर थे।

छोटे बच्चोमे विश्वास होता है। माँ जो कहे, वह उनके लिए प्रमाण। जो कहानियाँ उनसे कही जाती है, वे उन्हे असत्य नही मालूम होती। कौआ बोला, चिडिया बोली, यह सब उन्हे सच मालूम होता है। बच्चोकी इस मगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है।

३१. अभ्यास, वैराग्य और श्रद्धा

२५. तात्पर्य यह कि ध्यानयोगके लिए चित्तकी एकाग्रता, जीवनकी परिमितता और शुभ साम्य-दृष्टिकी जरूरत है। इसके सिवा और भी दो साधन बताये जाते है—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाडकर फेकना विध्वसक काम हुआ। इसीको 'वैराग्य' कहते है। उसमे बीज बोना विधायक काम है। मनमे सद्विचारोका पुनः पुन चितन करना 'अभ्यास' कहलाता है। वैराग्य विध्वसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया।

२६ अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते है—'आम मीठा है', परतु क्या यह मिठास निरे आममे है ? नही, निरे आममे नही है। हम अपनी आत्माकी मिठास वस्तुमे डालते है और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अत· भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तुमे मधुरता नही है, बल्कि वह **'रसाना रसतम'** माधुर्य-सागर आत्मा मेरे पास है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमे वैराग्यका सचार होता है। सीतामाताने हनुमान्को मोतियोका हार इनाममे दिया। हनुमान् मोतियोको चबाता, देखता और फेक देता। उनमे उसे कही 'राम' दिखाई नही देता था। राम तो था उसके हृदयमे। उन मोतियोके लिए मूर्ख लोग लाख रुपये दे देते।

२७ इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान्ने एक बहुत ही महत्त्वकी बात शुरूमे ही बता दी है। वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ सकल्प करना चाहिए कि 'मुझे स्वत· अपना उद्धार करना है। मै आगे बढूँगा। मै ऊँची उडान भरूँगा। इस नर-देहमे मै ज्यो-का-त्यो पडा नही रहूँगा। परमेश्वरके पास जानेका हिम्मतके साथ प्रयत्न करूँगा।'

यह सब सुनते-सुनते अर्जुनके मनमे शका उठी कि "भगवन्, अब तो हमारी उम्र बीत गयी। कुछ दिनोमे हम मर जायँगे, तो फिर यह साधना किस काम आयेगी ?" भगवान्ने कहा—"मृत्युका अर्थ तो है लबी नीद।" रोजका काम करके हम सात-आठ घटे सोते है। इस नीदसे कोई डरता है ? बल्कि नीद न आये, तो फिक्र पड जाती है। जैसे नीद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नीदसे उठकर फिर हम अपना काम प्रारभ कर देते है, वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी।

२८ ज्ञानदेवने 'ज्ञानेश्वरी' मे इस प्रसगपर लिखी ओवियोमे मानो अपना आत्मचरित्र ही लिख दिया है।

वालपणीं च सर्वज्ञता। वरी तयातें।
सकल शास्त्रें स्वयंमें। निघती मुखें।

–'बॅंगवमे ही उन्हे सर्वज्ञता वरण करती है। सारे शास्त्र स्वय ही मुखसे फूटते है।' ऐसे वचनोसे वह आभास होता है। पूर्वजन्मका अभ्यास तुम्हे खीच लेता है। किसी-किसीका चित्त विपयोकी ओर जाता ही नही। वह जानता ही नही कि मोह कैसा होता है, क्योकि पूर्व-जन्मके वह उसकी साधना कर चुका है।

न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गति तात गच्छति।

—जो मनुष्य कल्याण-मार्गपर चलता है, उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नही जाता। अतमे इस तरहकी श्रद्धा वतायी गयी है। जो कुछ अपूर्ण है, वह अतमे पूरा होकर रहेगा। भगवान्‌के इस उपदेशका स्वारस्य ग्रहण करो और अपने जीवनको सार्थक करो।

रविवार, २७-३-'३२

प्रपत्ति अथवा ईश्वर-शरणता

३२. भक्तिका भव्य दर्शन

भाइयो,

१ अर्जुनके सामने जव-स्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ, तो उसके मनमे स्वकीय और परकीयका मोह उत्पन्न हो गया और वह स्वधर्माचरणको टालनेकी चेष्टा करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमे दिखाया गया। इस मोहको मिटानेके लिए दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमे ये तीन सिद्धान्त वताये गये—(१) अमर आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, (२) देह नाशवान् है और (३) स्वधर्मका त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्यागरूपी वह युक्ति भी वतलायी, जिससे इन सिद्धान्तोपर अमल किया जा सके। इस कर्मयोगका विवरण देते हुए उसमेसे कर्म, विकर्म और अकर्म, ये तीन वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। कर्म-विकर्मके सगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पाँचवे अध्यायमे हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म वतानेकी शुरुआत की गयी है। छठे अध्यायमे साधनाके लिए आवश्यक एकाग्रता वतायी गयी।

तो बताओ, सच्ची सेवा कैसे बनेगी ? बैल भले ही खूब मोटा-ताजा हो, पर यदि गाडी खीचनेकी इच्छा ही उसे न हो, तो वह कधा डालकर बैठ जायगा और सभव है कि गाडीको किसी खड्डेमे भी गिरा दे। जिस कार्यमे हार्दिकता नही है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

३३. भक्तिसे विशुद्ध आनन्दका लाभ

५. यह भक्ति होगी, तो उस महान् चित्रकारकी कला हम देख सकेंगे। उसके हाथकी वह कलम हम देख सकेगे। जहाँ एक बार उस उद्गम-स्थलके झरनेको और वहाँके अपूर्व मधुर रसको चखा कि और सब रस तुच्छ और नीरस मालूम होगे। जिसने वास्तविक केले खा लिये, वह लकडीके रगीन केले एक क्षणके लिए हाथमे लेगा और 'बडे सुन्दर है', कहकर एक ओर रख देगा। असली केलोका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोमे खास उत्साह नही रहता। इसी तरह जिसने असली झरनेकी मिठास चख ली, वह बाहरके गुलाब-शर्बतपर लट्टू नही होगा।

६ एक तत्त्वज्ञानीसे लोगोने कहा—"महाराज, चलिये शहरमे आज बडी आराइश की गयी है।" तत्त्वज्ञानी बोला—"आराइश क्या है ?" "एक दीपक, इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा, इस तरह लाख, दस लाख, करोड, जितने चाहे समझ लो।" "समझ गया तुम्हारी आराइश।" गणित श्रेणीमे होता है, १ + २ + ३ आदि अनन्ततक। सख्याओमे जो अतर रखना है, वह यदि मालूम हो जाय, तो फिर सारी सख्या लिखनेकी जरूरत नही रहती। उसी तरह वे दीपक एकके बाद एक रख दिये समझो। इनमे इतना मशगूल होने जैसी क्या बात है ? परतु मनुष्यको ऐसे आनद प्रिय होते है। वह नीबू लायेगा, शकर लायेगा, पानीमे घोलेगा और फिर बड़ा स्वाद लेकर कहेगा—"वाह, क्या बढिया शिकजी बनी है!" जीभको जायजा लेनेके सिवा और धधा ही क्या है ? यह इसमे मिलाओ, वह उसमे मिलाओ। ऐसी मिलावटकी चाट खानेमे ही उसे सारा मजा! बचपनमे एक बार मै सिनेमा देखने गया था। साथमे एक टाटका टुकडा ले गया था, ताकि नीद आने लगे, तो सो जाऊँ। परदेपर आँखोको चौधिया देनेवाली वह आग मै देखने लगा। दो ही चार मिनटमे उन अग्निचित्रोको देखकर मेरी आँखे थक गयी। मै अपने टाटपर सो गया और कहा कि खेल जब खतम हो जाय, तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामे आकाशके चाँद-तारे देखना छोडकर, शात सृष्टिका वह पवित्र आनद छोडकर उस हवाबद थियेटरमे आगकी पुतलियोको नाचते देखकर लोग तालियाँ पीटते है! मेरी समझमे ही यह सब न आता था।

७ मनुष्य इतना निरानन्द कैसे ? उन निर्जीव पुतलियोको देखकर आखिर वेचारा किसी तरह थोडा आनद पा लेता है। जीवनमे आनद नही है, तो कृत्रिम आनद खोजते है। एक वार हमारे पडोसमे 'ढमढम' वजना शुरू हुआ। मैने पूछा—"यह वाजा क्यो ?" तो कहा गया—"लडका हुआ है।" दुनियामे क्या एक तेरे ही लडका हुआ है, जो 'ढमढम' वजाकर दुनियासे कहता है कि मेरे लडका हुआ है ? लडका होनेकी वात कहकर नाचता, कूदता और गाता है। यह सव लडकपन नही तो क्या है ? मानो आनदका अकाल ही पड गया है। अकालके दिनोमे जैसे कही अनाजका दाना दिखते ही लोग टूट पडते है, उसी तरह जहाँ लडका हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनदके भूखे-प्यासे लोग फुदकने लगते है।

क्या यह सच्चा आनद है ? सगीतकी लहरे कानोमे घुसकर दिमागको धक्का देती है। रूप आँखोमे घुसकर दिमागको धक्का देता है। इन धक्कोमे ही वेचारोका आनद समाया रहता है। कोई तवाकू कूटकर उसे नाकमे घुसेडता है, कोई उसकी वीडी वनाकर मुँहमे खोसता है। उस सुँघनीका या उस धुएँका धक्का लगा, तो मानो उन्हे आनदकी गठरी मिल गयी! वीडीका ठूँठ मिलते ही उनके आनन्दकी सीमा नही रहती। टॉल्स्टॉय लिखते है—"उस वीडीकी खुमारीमे मनुष्य किसीका खून भी कर सकता है।" एक प्रकारका नशा ही तो है!

ऐसे आनदमे मनुष्य क्यो मस्त हो जाता है ? क्योकि उसे वास्तविक आनन्दका पता नही है। मनुष्य परछाईमे ही भूला है। आज वह पाँच ज्ञाने-द्रियोका ही आनन्द ले रहा है। यदि आँखकी इन्द्रिय न होती, तो वह मानता कि ससारमे इन्द्रियोके चार ही आनद है। कल यदि मगल ग्रहसे कोई छह इन्द्रियोवाला मनुष्य नीचे उतर आये, तो ये वेचारे पाँच इन्द्रियोवाले खिन्न होगे और रोते-रोते कहेगे कि "इसके मुकावले हम कितने दीन-हीन है!"

सृष्टिका सम्पूर्ण अर्थ इन पाँच ज्ञानेद्रियोको कैसे मालूम होगा ? इन पाँच विषयोमे भी फिर मनुष्य चुनाव करता है और उसमे रमता रहता है। गधेका रेकना उसके कानोमे जाता है, तो कहता है कि कहाँसे यह अशुभ आवाज आ गयी ? तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे उस गधेका कुछ अशुभ नही होगा ? तुम्हीको दूसरेसे नुकसान होता है, क्या दूसरोका तुमसे कुछ नही विगडता ? पर मान लिया है कि गधेका रेकना अशुभ है।

एक वार वडौदा कॉलेजमे मेरे रहते समय कुछ यूरोपियन गायक आये। थे तो वे उत्तम गवैये, अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे, परन्तु मै सोच रहा था

कि कब यहाँसे छूट पाऊँ, क्योकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नही थी। मैने उन्हे फेल कर दिया। हमारी तरफके गवैये यदि उधर जायँ, तो कदाचित् वे भी वहाँ फेल समझे जायँगे। सगीतसे एकको आनन्द होता है, तो दूसरेको नही। मतलब यह कि वह सच्चा आनद नही है, मायावी आनन्द है। जबतक वास्तविक आनदका दर्शन न होगा, तबतक इस मायावी आनदमे ही झूलते रहेगे। जबतक असली दूध नही मिला था, तबतक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध मानकर पीता था। इसलिए जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेगे, उसका आनन्द चख लेगे, तो फिर दूसरी सब चीजे फीकी लगेगी।

८ इस आनन्दका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है—भक्ति। इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरीय कुशलता मालूम हो जायगी। उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाएँ अपने-आप विलीन हो जायँगी। फिर क्षुद्र आकर्षण नही रह जायगा। फिर ससारमे एक आनन्द ही भरा हुआ दिखाई देगा। मिठाईकी दूकाने भले ही सैकड़ो हो, परन्तु मिठाइयोका प्रकार एक-सा होता है। जबतक असली चीज हाथ न लगेगी, तबतक हम चचल चिडियाकी तरह एक चीज यहाँकी खायँगे, एक वहाँकी।

सुबह मै तुलसी-रामायण पढ रहा था। दीपकके पास कीडे जमा हो रहे थे। इतनेमे वहाँ एक छिपकली आयी। उसे मेरी रामायणसे क्या लेना-देना था! कीडे देखकर उसे बडा आनन्द हो रहा था! वह कीडोपर झपटनेवाली थी कि मैने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गयी। परन्तु उसका ध्यान एक-सा लगा था कीडेकी ओर। मैने अपने मनमे सोचा—"तू खाता है इस कीडेको? तेरी जीभसे लार टपकती है?" मेरी जीभसे लार नही टपकी। जिस रसका आनन्द मै लूट रहा था, उसका उस बेचारी छिपकलीको क्या पता? वह रामायणका रस नहो चख सकती थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोमे मस्त है। परन्तु यदि सच्चा रस मिल जाय, तो कैसी बहार आये! भगवान् भक्तिरूपी एक साधन दिखा रहे है, जिससे हम उस असली रसको चख सके।

३४. सकाम भक्तिका भी मूल्य है

९ भगवान्के भक्तके तीन प्रकार बतलाये है—(१) सकाम भक्ति करनेवाला, (२) निष्काम परन्तु एकागी भक्ति करनेवाला और (३) ज्ञानी अर्थात् सम्पूर्ण भक्ति करनेवाला। निष्काम परन्तु एकागी भक्ति करनेवालोके भी तीन प्रकार है–(१) आर्त, (२) जिज्ञासु और (३) अर्थार्थी। भक्तिवृक्षकी ये शाखा-प्रशाखाएँ है।

सकाम भक्ति करनेवाले याने क्या ? कुछ इच्छा मनमे रखकर भगवान्‌के पास जानेवाला। मै उसकी यह कहकर निंदा न करूँगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकारकी है। बहुत लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमे इसीलिए कूदते है कि मान-सम्मान मिले। इसमे हर्ज क्या है ? आप उन्हे खूब मान दीजिये। मान देनेसे कुछ न बिगडेगा। ऐसा मान मिलते रहनेसे आगे सार्वजनिक सेवामे वे सुस्थिर हो जायँगे। फिर उसी काममे उन्हे आनद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी जो इच्छा होती है, उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मानसे हमे विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते है, वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी या बुरी, यह समझनेके लिए जिसके पास कोई आतरिक साधन नही है, वह इस बाह्य साधनका सहारा लेता है। माँने बच्चेकी पीठ ठोककर कहा 'शाबाश', तो उसकी तबीयत होती है कि माँका और भी काम करूँ। यही बात सकाम भक्तकी है। सकाम भक्त सीधा परमेश्वरके पास जाकर कहेगा—"दो।" सब कुछ परमेश्वरसे माँगना कोई मामूली बात नही। यह असाधारण बात है।

ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा—"तीर्थयात्राके लिए चलते हो ?" नामदेवने कहा—"यात्रा किसलिए ?" ज्ञानदेवने जवाब दिया—"साधु-सन्तोका समागम होगा।" नामदेवने कहा—"तो भगवान्‌से पूछ आता हूँ।" नामदेव मदिरमे जाकर भगवान्‌के सामने खडे हो गये। उनकी आँखोसे आँसू बहने लगे। भगवान्‌के उन समचरणोकी ओर वे देखते रहे। अतमे रोते-रोते उन्होने पूछा—"प्रभो, क्या मै जाऊँ ?" ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेगे ? ऐसे लोग बहुत है, जो घरमे स्त्री न होनेसे रोते है। परन्तु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला भक्त सकाम भले ही हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच माँगने योग्य है, उसे वह नही माँगता, परन्तु इसलिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नही मानी जा सकती।

१० स्त्रियाँ सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती है, काकडा* आरती करती है, तुलसीकी परिक्रमा करती है। किसलिए ? मरनेके बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ऐसी भोली धारणा हो सकती है। परन्तु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती है। ऐसे व्रतशील परिवारमे महापुरुषोका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमे रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके पण्डित थे। किसीने कह दिया—"तुलसी-

* सुबह की जानेवाली बडा बातीवाली विशिष्ट आरती।

दासके कुलमे जनमे हो और तुम सस्कृत नही जानते !" रामतीर्थको यह बात चुभ गयी । कुलस्मृतिकी यह कितनी सामर्थ्य है ! इससे प्रेरित होकर वे सस्कृतके अध्ययनमे जुट गये । स्त्रियाँ जो भक्तिभाव रखती है, उसकी दिल्लगी न उड़ानी चाहिए । जहाँ भक्तिका ऐसा एक-एक कण सचित होता है, वहाँ तेजस्वी सतति उत्पन्न होती है । इसीलिए भगवान् कहते है–"मेरा भक्त सकाम होगा, तो भी उसकी भक्ति दृढ करूँगा । उसके मनमे उलझन नही होने दूँगा । यदि वह मुझसे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो, तो मै उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूँगा । किसी भी निमित्तसे क्यो न हो, वह मेरे पास आयेगा, तो मै उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसकी कद्र ही करूँगा ।" ध्रुवको ही देखो । पिताकी गोदमे बैठने न पाया, तो उसकी माँने कहा, "ईश्वरसे स्थान माँग ।" वह उपासनामे जुट पडा । भगवान्ने उसे अचल स्थान दे दिया । मन निष्काम न हो, तो भी क्या ? महत्त्वकी बात तो यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, माँगता किससे है ? दुनियाके सामने हाथ न पसारकर ईश्वरसे माँगनेकी वृत्ति वडे महत्त्वकी है ।

११ निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मदिरमे जाओ तो । पहले यदि कामना लेकर भी जाओगे, तो भी आगे चलकर निष्काम हो जाओगे । प्रदर्शनियाँ की जाती है । उनके सचालक कहते है–"अजी, आप आकर देखिये, कैसी वढिया, रगीन, महीन खादी वनने लगी है । जरा नये-नये नमूने तो देखिये ।" मनुष्य आता है और प्रभावित होता है । यही बात भक्तिकी है । भक्ति-मन्दिरमे एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहाँका सौदर्य और सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगी ।

स्वर्ग जाते हुए धर्मराजके साथ अन्तमे एक कुत्ता ही रह गया । भीम, अर्जुन, सब रास्तेमे गल गये । स्वर्ग-द्वारके पास धर्मराजसे कहा गया–"तुम आ सकते हो, परन्तु कुत्तेकी मनाही है ।" धर्मराजने कहा–"अगर मेरा कुत्ता नही आ सकता, तो मै भी नही आ सकता ।" अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यो न हो, दूसरे 'मै-मै' करनेवालोसे तो वह श्रेष्ठ ही है । वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ । परमेश्वरकी ओर जानेवाला कीडा ही क्यो न हो, वह परमेश्वरकी ओर न जानेवाले वडे-से-बडे व्यक्तिसे श्रेष्ठ और महान् है । मदिरमे कछुए और नन्दीकी मूर्तियाँ रहती है, परन्तु उस नन्दी-बैलको सब नमस्कार करते है, क्योकि वह साधारण वेल नही है । वह भगवान्के सामने रहता है । वैल होनेपर भी यह नही भूल सकते कि वह परमेश्वरका है । बड़े-

वडे वुद्धिमानोकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। भगवान्‌का स्मरण करनेवाला वावला जीव भी विश्व-वद्य हो जाता है।

१२ एक वार मै रेलमे जा रहा था। यमुनाके पुलपर गाडी आयी। पास वैठे एक आदमीने वडे पुलकित हृदयसे उसमे एक धेला डाल दिया। पडोसमे एक आलोचक महागय वैठे थे। कहने लगे—"पहले ही देग कगाल है और ये लोग यो व्यर्थ पैसा फेकते है।" मैने कहा—"आपने उसके हेतुको पहचाना नही। जिस भावनासे उसने धेला-पैसा फेका, उसकी कीमत दो-चार पैसे होगी या नही ? यदि दूसरे सत्कार्यके लिए पैसे दिये होते, तो यह दान और भी अच्छा होता। किन्तु इस वातका विचार पीछे करेगे। परन्तु उस भावनागील मनुष्यने तो इसी भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी यानी ईश्वरकी करुणा ही वह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थशास्त्रमे कोई स्थान है क्या ? देशकी एक नदीको देखकर उसका अत करण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्र कर सके, तो मै आपकी देग-भक्तिको परखूँगा।" देग-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है ? देशकी महान् नदीको देखकर यदि यह भावना मनमे जगती है कि अपनी सारी सम्पत्ति इसमे डुवो दूँ, इसके चरणोमे अर्पण कर दूँ, तो यह कितनी वडी देश-भक्ति है। वह सारी धन-दौलत, वे सव सफेद, लाल, पीले पत्थर, कीडोकी विष्ठासे वने मोती, मूँगा—इन सवकी कीमत पानीमे डुवो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोके आगे यह सारी धूल तुच्छ समझो। आप कहेगे कि नदीका और परमेश्वरके चरणोका क्या सम्वन्ध ? आपकी सृष्टिमे परमात्माका कुछ सम्वन्ध है भी ? नदी है, ऑक्सिजन और हाइड्रोजन। सूर्य है, गैसकी वत्तीका एक वडा-सा नमूना। उसे नमस्कार क्या करे ? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको। फिर उस रोटीमे भला क्या है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यो इतनी लार टपकाते हो ? इतना वडा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुन्दर नदी वह रही है,—इनमे यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा, तो फिर होगा कहाँ ? अग्रेज कवि वर्डस्वर्थ वडे दु खसे कहता है—"पहले जव मै इन्द्र-धनुप देखता था, तो नाच उठता था। हृदय हिलोरे मारने लगता था। पर आज मै क्यो नही नाच उठता ? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कही मै पत्थर तो नही वन गया ?"

साराश यह कि सकाम भक्ति अथवा गँवार मनुष्यकी भावनाका वडा महत्त्व है। अन्तमे इससे महान् सामर्थ्य पैदा होती है। जीवधारी कोई भी और कैसा ही हो, वह जव एक वार परमेश्वरके दरवारमे आ जाता है, तो फिर मान्य हो जाता है। आगमे किसी भी लकड़ीको डालिये, वह जल ही

उठेगी। परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा। बादमे वह भक्ति निष्कामता और पूर्णताकी ओर चली जायगी।

३५. निष्काम भक्तिके प्रकार और पूर्णता

१३ सकाम भक्त हमने देखा। अब निष्काम भक्त देखे। इसमे भी और दो प्रकार है—एकागी और पूर्ण। एकागीके तीन प्रकार है। उनमे पहला प्रकार है आर्त भक्तोका। आर्त होता है दयाप्रार्थी, भगवान्‌के लिए रोने-चिल्लाने और छटपटानेवाला, जैसे नामदेव। वह इस बातके लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान्‌के प्रेमरसका पान करूँगा, कब उससे गले लिपटकर जीवनको कृतार्थ करूँगा, कब उसके चरणोमे अपनेको डालकर धन्य होऊँगा! प्रत्येक कार्यमे वह यह देखेगा कि सचाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम उसमे है या नही।

१४ दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओका। आजकल अपने देशमे इस श्रेणीके भक्त बहुत नही है। इस कोटिके भक्तोमे कोई गौरीशकरपर बार-बार चढेगे और मरेगे। कोई उत्तर ध्रुवकी खोजमे निकलेगे और अपनी खोजके फल कागजपर लिखकर उन्हे बोतलमे बद करके पानीमे छोडकर मर जायँगे। कोई ज्वालामुखीके गर्भमे उतरेगे। अभी तो हिंदुस्तानियोके लिए मौत एक हौआ बन बैठी है। परिवारके भरण-पोषणसे बढकर कोई पुरुषार्थ ही नही रहा है। जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुखके द्वारा अन्तमे समुद्रको पा जाता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अन्तमे परमेश्वरको प्राप्त कर लेगा।

१५. तीसरा प्रकार है, अर्थार्थियोका। अर्थार्थीका अर्थ है, प्रत्येक बातमे अर्थ देखनेवाला। 'अर्थ' का मतलब पैसा नही, बल्कि हित-कल्याण है। किसी भी बातकी जाँच करते समय वह उसे इस कसौटीपर कसेगा कि इसके द्वारा समाज-का क्या कल्याण होगा। वह देखेगा कि मै जो कुछ कहता, लिखता, करता हूँ, उससे ससारका मगल होगा या नही? निरुपयोगी, अहितकर क्रिया उसे पसन्द न आयेगी। ससारके हितकी चिन्ता करनेवाला कितना बडा महात्मा है! जगत्‌का कल्याण ही उसका आनन्द है। जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाओको देखता है वह आर्त, ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है वह जिज्ञासु और सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है वह अर्थार्थी।

१६. ये तीनो भक्त है तो निष्काम, परन्तु एकागी है। एक कर्मके द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धिके द्वारा ईश्वरके पास पहुँचता है। अब रहा

पूर्ण भक्तका प्रकार। इसीको ज्ञानी भक्त कहना चाहिए। इस भक्तको जो कुछ दीखता है, सो सब परमेश्वरका ही रूप है। कुरूप-सुरूप, राव-रक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी—सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन।

नर-नारी बाळें अवघा नारायण। ऐसें माझें मन करीं देवा ॥

—'नर, नारी, बालक सभी नारायण है। ऐसा मेरा मन बना दो, हे प्रभु!'

सत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है। हिन्दू-धर्ममे जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूँडवाले देवताकी पूजा, पेडोकी पूजा आदि पागलपनके नमूने हैं, उनसे भी अधिक पागलपनका कमाल ज्ञानी भक्तोके यहाँ दीखता है। उनसे कोई भी क्यो न मिले, उन्हे चीटीसे लेकर चद्र-सूर्यतक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उनका हृदय आनदसे हिलोरे मारने लगता है।

मग तया सुखा अत नाहीं पार। आनदें सागर हेलावती ॥

—'फिर उसे अपार सुख मिलता है। आनन्दसे उसका हृदय-सागर हिलोरे मारने लगता है।'

ऐसा जो यह दिव्य और भव्य दर्शन है, उसे भले ही आप भ्रम कहे। परन्तु यह भ्रम सौख्यकी राशि है, आनन्दकी निधि है। गभीर सागरसे उसे परमेश्वरका विलास दिखाई देता है, गो-मातामे उसे ईश्वरका वात्सल्य नजर आता है, पृथ्वीमे उसको क्षमता दीख पडती है, निरभ्र आकाशमे उसकी निर्मलता, रवि-चद्र-तारोमे उसका तेज और भव्यता दीख पडती है। फूलमे उसकी कोमलता और दुर्जनोमे अपनी कसौटी करनेवाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है' यह देखनेका अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते है। ऐसा करते करते वह—ज्ञानी भक्त—एक दिन ईश्वरमे ही मिल जाता है।

रविवार, ३-४-'३२

प्रयाण-साधना : सातत्ययोग | ८

३६. शुभ संस्कारोंका संचय

१ मनुष्यका जीवन अनेक सस्कारोसे भरा होता है। हमसे असख्य क्रियाएँ होती रहती है। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगे, तो उनका अत ही नही आ सकता। यदि मोटे तौरपर हम चौवीस घटोकी ही क्रियाओको

देखने लगे, तो उनकी गिनती भी बहुत अधिक होगी। खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना, पढना–इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेप, मानापमान, सुख-दु ख आदि अनन्त प्रकार दिखाई देगे। इन सबके सस्कार हमारे मनपर होते रहते है। अत मुझसे यदि कोई पूछे कि जीवन किसे कहते है, तो मै उसकी व्याख्या करूँगा–सस्कार-सचय।

२. सस्कार अच्छे भी होते है, बुरे भी। दोनोका प्रभाव मनुष्यके जीवन-पर पडता रहता है। बचपनकी क्रियाओकी तो हमे याद भी नही रहती। सारा बालपन इस तरह मिट जाता है, जैसे स्लेटपर लिखकर पोछ दिया हो। पूर्वजन्मके सस्कार तो बिलकुल ही साफ पोछ दिये जैसे हो जाते है–यहॉतक कि इस बातकी भी शका उठ सकती है कि पूर्व-जन्म था भी या नही। जब इस जन्मका ही बचपन याद नही आता, तो फिर पूर्व-जन्मकी बात ही क्या ? पूर्व-जन्मको जाने दीजिये, हम इसी जन्मका विचार करे। जितनी क्रियाएँ हमे याद रहती है, उतनी ही होती है, सो बात नही। क्रियाएँ अनेक होती है और ज्ञान भी अनेक, परन्तु ये क्रियाएँ और ज्ञान मिटकर अतमे कुछ सस्कार ही बच जाते है। रातको सोते समय दिनकी सब क्रियाओको यदि हम याद करने लगे, तो भी याद नही आती। याद कौनसी क्रियाएँ आती है ? वे ही क्रियाएँ हमारी ऑखोके सामने आती है, जो बहुत स्पष्ट और प्रभावकारी होती है। यदि हमारा किसीसे बहुत लड़ाई-झगडा हुआ हो, तो वह याद रहता है, क्योकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई होती है। मुख्य और स्पष्ट क्रियाओके सस्कार मन-पर बड़े गहरे हो जाते है। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड जाती है। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठे तो दो ही चार महत्त्वकी बाते लिखते है। यदि प्रतिदिनके ऐसे सस्कारोको लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लगे, तो और भी कई बाते उनमेसे निकल जायँगी और सप्ताहकी मुख्य घटनाएँ ही बच जायँगी। पिछले महीनेका हिसाब लगाने बैठे, तो उतनी ही बाते हमारे सामने आयेगी, जो उस महीनेमे मुख्य रही होगी। इसी तरह फिर छह महीना, साल, पॉच सालका हिसाब लगाये, तो बहुत थोडी खास-खास बाते याद रहेगी और उन्हीके सस्कार बनेगे। असख्य क्रियाओ और अनत ज्ञानोके होनेपर भी अतमे मनके पास बहुत थोडी बचत रहती है। वे विभिन्न कर्म और ज्ञान आये और अपना काम करके समाप्त हो गये। उन सब कर्मोके पॉच-दस दृढ सस्कार ही शेष रह जाते है। ये सस्कार ही हमारी पूँजी है। हम जीवनरूपी व्यापार करके सिर्फ सस्काररूपी सपत्ति कमाते है। जिस प्रकार व्यापारी रोजका,

महीनेका और सालभरका जमा-नाम करके अन्तमे लाभ या हानिका एक ही आँकडा निकालता है, ठीक वही हाल जीवनका होता है। अनेक सस्कारोका जमा-नाम होते-होते अन्तमे एक अत्यन्त छोटी और सीमित रोकड़-वाकी वच जाती है। जव जीवनकी अन्तिम घडी आती है, तव जीवनकी यह रोकड-वाकी आत्मा याद करने लगता है। जन्मभरमे क्या किया, इसकी याद आने-पर उसे सारी कमाई दो-चार वातोमे दीख पडती है। इसका यह अर्थ नही कि अन्य सव कर्म और ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया। हजारो प्रकारके लेन-देनके वाद अन्तमे कुल पाँच हजारका घाटा या दस हजारका नफा, इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है। घाटा हुआ तो छाती वैठ जाती है, नफा हुआ तो दिल उछलने लगता है।

३ हमारा भी यही हाल है। मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई, तो जिंदगीभर भोजनका स्वाद लेनेका ही अभ्यास करते रहे, यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना, यही जिंदगीभरकी कमाई। किसी माताको मरते समय यदि वेटेकी याद हो आयी, तो उसका पुत्र-सबधी सस्कार ही वलवान् मानना चाहिए। वाकी जो असख्य कर्म किये, वे गौण हो गये। अकगणितमे अपूर्णांकके सवाल होते है। कितनी वडी-वडी सख्याएँ! परन्तु सक्षेप वनाते-वनाते अन्तमे एक अथवा शून्य उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमे सस्कारोकी अनेक सख्याएँ वाद होकर अन्तमे एक वलवान् सस्कार ही साररूपमे रह जाता है। जीवनरूपी प्रश्नका वह उत्तर है। अन्तकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अन्तिम सार मधुर निकले, अतकी यह घडी मधुर हो, इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिए। जिसका अत मधुर, उसका सव मधुर। उस अतिम उत्तरपर ध्यान रखकर सारे जीवनका सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना वनाओ। गणितमे जो विशिष्ट प्रश्न पूछा गया होगा, उसको सामने रखकर उत्तर निका-लते है। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पडता है। अत मरनेके समय जो सस्कार दृढ रखनेकी इच्छा हो, उसीके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोडना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

३७. मरणका स्मरण रहे

४ इस आठवे अध्यायमे यह सिद्धान्त वताया गया है कि जो विचार मरते समय स्पष्टत उभरता है, वही अगले जन्ममे वलवत्तर सिद्ध होता है। इस

पाथेयको साथ लेकर जीव आगेकी यात्राके लिए निकलता है। आजके दिनकी कमाई लेकर, नीदके बाद हम कलका दिन शुरू करते है। उसी तरह इस जन्म-के पाथेयको लेकर मरणरूपी बडी नीदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अन्त है, वही अगले जन्मका आरम्भ है। अत सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

५. मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत इसलिए भी है कि मृत्युकी भयानकता-का मुकाबला किया जा सके, उसका उपाय निकाला जा सके। एकनाथ महाराजकी एक कहानी है। एक सज्जनने उनसे पूछा—"महाराज, आपका जीवन कितना सादा, कितना निष्पाप है! हमारा जीवन ऐसा क्यो नही? आप कभी गुस्सा नही होते, किसीसे लडाई-झगडा नही, टटा-बखेडा नही। कितने शात, कितने प्रेमपूर्ण, कितने पवित्र है आप!" एकनाथने कहा—"अभी मेरी बात छोडो। तुम्हारे सम्बन्धमे मुझे एक बात मालूम हुई है। आजसे सात दिनके भीतर तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" अब एकनाथकी कही बातको झूठ कौन मानता? सात दिनमे मृत्यु! सिर्फ १६८ ही घण्टे बाकी रहे। हे भगवन्, यह क्या अनर्थ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड गया। कुछ सूझ नही पड़ता था। आखिरी समय निकट होनेका आभास मिलनेपर मनुष्य जो तैयारी करने लगता है, वह सब वह भी कर रहा था। वह बीमार हो गया। बिस्तरपर पड गया। छह दिन बीत गये। सातवे दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा—"क्या हाल है?" उसने कहा —"बस, अब चला।" नाथजीने पूछा—"इन छह दिनोमे कितना पाप हुआ? पापके कितने विचार मनमे आये?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला—"नाथजी, पापका विचार करनेकी तो फुरसत ही नही मिली। मौत सतत आँखोके सामने खडी थी।" नाथजीने कहा—"हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यो है, इसका उत्तर अब मिल गया न?" मरणरूपी शेर सदैव सामने खड़ा रहे, तो फिर पाप सूझेगा कैसे? पाप करनेके लिए भी निश्चितता चाहिए। मरणका सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय है। यदि मौत सामने दीखती रहे, तो फिर मनुष्य किस बलपर पाप करेगा?

६ परन्तु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है। पास्कल नामक एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया है। उसकी एक पुस्तक है—'पासे'। 'पासे' का अर्थ है—'विचार'। उसने इस पुस्तकमे भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये है। उसमे वह एक जगह लिखता है—"मौत सदा पीछे खडी है, परन्तु मनुष्यका यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे? किंतु वह यह बात अपने सामने नही

रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चले ?" मनुष्यको 'मरण' शब्दतक सहन नही होता। खाते समय यदि मृत्युका नाम किसीने ले लिया, तो कहते है —"क्या अशुभ बात मुँहसे निकालते हो !" परन्तु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मृत्युकी ओर ही बढ रहा है। बम्बईका टिकट कटाकर एक बार तुम रेलमे बैठ गये, तो तुम भले ही बैठ रहो, परन्तु गाडी तुम्हे बबई ले जाकर छोड ही देगी। जन्म होते ही हमने मृत्युका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिये या दौडते रहिये। बैठे रहेगे तो भी मृत्यु आयेगी, दौडते रहेगे तो भी। आप मृत्युका विचार करे या न करे, वह आये बिना न रहेगी। मरण निश्चित है, और बाते भले ही अनिश्चित हो। सूर्य अस्ताचलकी ओर चला कि हमारी आयुका एक अश उसने खाया। जीवनके भाग यो कटते जा रहे है, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूद घट रहा है, तो भी मनुष्यको उसका कुछ खयाल नही। ज्ञानेश्वर कहते है—"बडा अजीब है !" उन्हे आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्योकर इतनी निश्चितता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय लगता है कि उसे मरणका विचारतक सहन नही होता। वह सदा उसके विचारको टालता रहता है। आँखोपर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लडाईपर जानेवाले सैनिक मरणका विचार टालनेके लिए खेलते है, नाचते-गाते है, सिगरेट पीते है। पास्कल लिखता है कि "प्रत्यक्ष मरण सर्वत्र दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही, उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमे और गान-तानमे मस्त रहता है।"

७ हम सब इसी टामीकी तरह है। चेहरेको गोल हँसमुख बनानेका प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पोमेड लगाना, बाल सफेद हो गये हो, तो खिजाब लगाना—ऐसे प्रयत्न मनुष्य करता है। छातीपर मृत्यु नाच रही है, फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अक्षय प्रयत्न कर रहे है। और चाहे कोई भी बाते करेगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेगे। मैट्रिक पास लडकेसे पूछो कि "अब आगे क्या इरादा है ?" तो वह कहता है—"अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्ट ईयरमे हूँ।" दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—"पहले इटर तो हो जाने दो, फिर देखेगे।" यही सिलसिला चलता है। जो आगे होनेवाला है, उसका क्या पहलेसे विचार नही करना चाहिए ? अगले कदमके बारेमे पहलेसे सोच लेना चाहिए, नही तो वह गड्ढेमे गिरा सकता है, परन्तु विद्यार्थी इन सबको टालता है। बेचारेकी शिक्षा ही इतनी अधकारमय होती है कि उसमेसे उस पारका भविष्य उसे दिखाई ही नही देता। अत आगे क्या करना है, यह

सवाल ही वह सामने नही आने देता, क्योकि उसे चारो ओर अधकार ही दिखाई देता है। परन्तु भविष्य टाला नही जा सकता। वह तो खोपडीपर आकर सवार हो ही जाता है।

८ कॉलेजमे प्रोफेसर तर्कशास्त्र पढाता है—"मनुष्य मर्त्य है। सुकरात मनुष्य है, अत सुकरात मरेगा।" यह अनुमान वह सिखाता है। वह सुकरातका उदाहरण देता है, खुद अपना क्यो नही देता ? प्रोफेसर भी मर्त्य है। वह क्यो नही पढाता कि "सब मनुष्य मर्त्य है, अत मै प्रोफेसर भी मर्त्य हूँ और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।" वह उस मरणको सुकरातपर ढकेल देता है, क्योकि सुकरात तो मर चुका है। वह झगडा करनेके लिए हाजिर नही है। शिष्य और गुरु दोनो सुकरातको मरण सौपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप, मेरी भी चुप' वाली गति करते है। मानो, वे यह समझ बैठे है कि हम तो बहुत सुरक्षित है।

९. इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र रात-दिन जान-बूझकर हो रहा है। परन्तु इससे मृत्यु कही टल सकती है ? कल यदि माँ मर जाय, तो मौत सामने आने ही वाली है। मनुष्य निर्भयतापूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नही करता कि उसमेसे रास्ता कैसे निकाला जाय। कोई शेर हिरनके पीछे पडा हो। वह हिरन खूब चौकडी भरता है, परन्तु उसकी शक्ति कम पडती जाती है और अन्तमे वह थक जाता है। पीछेसे वह शेर, यमदूत, दौडा आ ही रहा है। उस समय उस हिरनकी क्या दशा होती है ? वह उस शेरकी ओर देख भी नही सकता। वह मिट्टीमे सीग और मुँह घुसाकर, ऑख मूँदकर खडा हो जाता है, मानो निराधार होकर कहता हो—"ले, अब आ और मुझे हडप जा।" हम मृत्युका सामना नही कर सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारो तरकीबे निकाले, तो भी उसका जोर इतना होता है कि अन्तमे वह हमारी गर्दन धर दबाती ही है।

१० और फिर जब मृत्यु आती है, तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड-बाकी देखने लगता है। परीक्षामे बैठा हुआ आलसी, मन्द विद्यार्थी दावातमे कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परन्तु सफेद कागजको काला करनेकी हिम्मत नही होती। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नही ? सरस्वती आकर थोड़े ही जवाब लिख जायगी ! तीन घण्टे खतम हो जाते है, वह कोरा कागज दे देता है या अन्तमे कुछ घसीट मारता है। सवाल हल करना है, जवाब लिखना है, यह उसे सूझता ही नही ! वह इधर देखता है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अतः हमे चाहिए कि हम इस बातको याद रखकर

कि जीवनका छोर मृत्युकी ओर गया हुआ है, अतिम क्षणको पुण्यमय, अत्यत पावन और मधुर वनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहे। आजसे ही इस वातका विचार करते रहना चाहिए कि मनपर उत्तम-से-उत्तम सस्कार कैसे पडे। परन्तु अच्छे सस्कारोके अभ्यासकी पडी किसे है ? इससे विपरीत, वुरी वातोका अभ्यास पग-पगपर होता रहता है। जीभ, आँख और कानको हम चटोरपन सिखा रहे है। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमे लगाना चाहिए। अच्छी वातोकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उनमे उसे रँग देना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाय, उसी क्षणसे उसे सुधारनेमे व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जानेपर भी क्या वही करते रहेगे ? जिस क्षण हमे अपनी भूल मालूम हुई, उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन वचपन, अपने जीवनका नव-प्रभात समझो। अव तुम सचमुच जगे हो। अव दिन-रात जीवनकी जाँच-पडताल करते रहो और सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर वुरी वातका अभ्यास शुरू हो जायगा।

११ वहुत साल पहले मै अपनी दादीसे मिलने गया था। वह वहुत वूढी हो गयी थी। वह मुझसे कहती–"विन्या, अव मुझे कुछ याद नही रहता। घीकी वरनी लेने जाती हूँ और उसे विना लाये ही लौट आती हूँ।" परन्तु वह ५० साल पहलेकी गहनोकी एक वात मुझसे कहा करती। पाँच मिनट पहलेकी वात याद नही, मगर पचास साल पहलेके वलवान् सस्कार अन्ततक सतेज है। इसका कारण क्या है ? वह गहनेवाली वात उसने हरएकसे कही होगी। उस वातका सतत उच्चारण होता रहा। अत वह जीवनसे चिपककर वैठ गयी। जीवनके साथ एकरूप हो गयी। मैने मनमे कहा–"भगवान् करे, दादीको मरते समय उन गहनोकी याद न आये।"

३८. उसीमे रँग रहे सदा

१२ जिस वातका हम रात-दिन अभ्यास करते है, वह हमसे क्यो न चिपकी रहेगी ? उस अजामिलकी कथा पढकर भ्रममे मत पड जाना। वह ऊपरसे पापी था, परन्तु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा वह रही थी। वह पुण्य अतिम क्षणमे जाग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अतमे राम-नाम अचूक याद आ जायगा, इस धोखेमे मत रह जाना। वचपनसे ही मन लगाकर अभ्यास करो। ऐसी सावधानी रखो कि हमेशा अच्छे ही सस्कार पडे। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा और उससे क्या होगा ? चार वजे ही क्यो उठे ? सात वजे उठे, तो उससे क्या विगडेगा ? ऐसा कहनेसे काम नही चलेगा। यदि मनको वरावर ऐसी आजादी देते जाओगे, तो अतमे फँस

जाओगे। फिर अच्छे सस्कार अकित नही होने पायेगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी जुटानी पडती है। एक-एक क्षण व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जनमे लगाना पडता है। इस बातका ध्यान रखो कि प्रतिक्षण अच्छा ही सस्कार पड रहा है न ? बुरी बात बोले कि लगा बुरा सस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छेनी बनकर हमारा जीवनरूपी पत्थर गढती है। दिन अच्छी तरह बीता, तो भी स्वप्नमे बुरे विचार आ जाते है। दस-पाँच दिनके ही विचार स्वप्नमे आते हो, सो बात नही। कितने ही बुरे सस्कार असावधानीमे पड जाते है। नही कह सकते कि वे कब जग पडेगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोमे भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा हो जाता है। हम ससार-सागरमे डूब रहे है। यदि हम थोडा भी अच्छा बोले, तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नही जाता। वह तुम्हे तार देगा। लेशमात्र भी बुरे सस्कार न होने चाहिए। सदा ऐसा ही उद्योग करो, जिससे आँखे पवित्र रहे, कान निंदा न सुने, मुखसे वाणी अच्छी निकले। यदि ऐसी सावधानी रखोगे, तो अन्तिम क्षणमे हुक्मी दाँव पडेगा। हम अपने जीवन-मरणके स्वामी हो जायँगे।

१३ पवित्र सस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमे दौडाने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनेमे लगे रहे। भीतरसे ईश्वरका स्मरण और बाहरसे स्वधर्माचरण, हाथोसे सेवारूपी कर्म, मनमे विकर्म—ऐसा नित्य करते रहना चाहिए। गाधीजीको देखो, रोज चरखा चलाते है। वे रोज कातनेपर जोर देते है। रोज क्यो काते ? कपडेके लिए कभी-कभी कात लिया करे, तो क्या काम नही चलेगा ? परन्तु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमे आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-न-कुछ करना है, इस बातका वह चिन्तन है। वह सूत हमे नित्य दरिद्रनारायणसे जोडता है। वह सस्कार दृढ होता है।

१४ डॉक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी ले, तो ? तो वह बेतुकी बात होगी। औषधिका उद्देश्य सफल न होगा। प्रतिदिन औषधिके सस्कारसे प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शिवजीपर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पडता है। मेरा यह प्रिय दृष्टात है। बचपनमे मै नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घटोमे कुल मिलाकर वह पानी दो बालटी होता होगा, तो फिर एक साथ दो बालटी शिवजीपर क्यो न उँडेल दी जाय ? इसका उत्तर बचपनमे ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उँड़ेल देनेसे वह कर्म सफल नही हो सकता। एक-एक बूँद धार पड़ना ही उपासना है। समान सस्कारोकी धारा सतत बहनी

चाहिए। जो सस्कार सबेरे, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमे, वही रातमे, वही कल, वही आज और जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममे वही अगले जन्ममे, जो जीवनमे वही मृत्युमे, ऐसी एक-एक सत्सस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमे सतत वहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखड चालू रहेगा, तभी हम अतमे जीत सकेगे। तभी हम मुकाम-पर अपना झडा गाड सकेगे। सस्कारोका प्रवाह एक ही दिशामे वहना चाहिए। पहाडपर गिरा पानी यदि बारह दिशाओमे वह जायगा, तो फिर उससे नदी नही वन सकती। इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामे वहेगा, तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गगा वनकर ठेठ समुद्र-तक जा पहुँचेगा। एक दिशामे वहनेवाला पानी समुद्रमे मिलेगा, चारो दिशा-ओमे जानेवाला यो ही सूख जायगा। यही बात सस्कारोकी है। सस्कार यदि आते और मिटते गये, तो क्या फायदा? यदि जीवनमे सस्कारोका पवित्र प्रवाह सतत वहता रहेगा, तभी अतमे मरण महाआनदका निधान मालूम पडेगा। जो यात्री रास्तेमे ज्यादा न ठहरते हुए, रास्तेके मोह और प्रलोभनसे वचते हुए, कठिन चढाई कदम जमा-जमाकर चढता हुआ, शिखरतक पहुँच गया और ऊपर पहुँचकर छातीपरके सारे बोझ और वधन हटाकर वहाँकी खुली हवाका अनुभव करने लगा, उसके आनन्दकी कल्पना क्या दूसरे लोग कर सकेगे? पर जो प्रवासी रास्तेमे ही रुक गया, उसके लिए सूर्य थोडे ही रुकेगा?

३९ रात-दिन युद्धका प्रसंग

१५ सार यह है कि वाहरसे सतत स्वधर्माचरण और भीतरसे हरि-स्मरणरूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया, इस तरह जब ये अतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेगे, तव मरण आनददायी मालूम होगा। इसलिए भगवान् कहते है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च।

—'मेरा अखड स्मरण करो और लडते रहो।'

सदा त्यात चि रगला

—'उसीमे सदा रँगा रह।' सदा ईश्वरमे लीन रहो। ईश्वरीय प्रेमसे जव अतर्बाह्य रँग जाओगे, जब वह रग सारे जीवनमे चढ जायगा, तव पवित्र वातोमे सदैव आनन्द आने लगेगा। तव वुरी वृत्तियाँ सामने आकर खड़ी ही न रहेगी। सुन्दर, बढिया मनोरथोके अकुर मनमे उगने लगेगे। अच्छे कर्म सहज ही होने लगेगे।

१६ यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेगे, परन्तु भगवान्‌की आज्ञा है कि "लडते रहो"। तुकाराम महाराज कहते है—

> **रात्रीदिवस आम्हा युद्धाचा प्रसंग ।**
> **अतर्बाह्य जग आणि मन ।।**

—'हमारे लिए रात-दिन युद्धका ही प्रसग है। एक ओर है मन और दूसरी ओर है अतर्वाह्य जगत्।'

भीतर और बाहर अनन्त सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टिसे मनका सतत झगडा जारी रहता है। इस झगडेमे हर बार जय ही होगी, ऐसा नही। जो अन्तको पा लेगा, वही सच्चा विजयी। अन्तमे जो फैसला हो, वही सही। कई बार यश मिलेगा, तो कई बार अपयश। अपयश मिला, तो निराश होनेका कोई कारण नही। मान लो कि पत्थरपर उन्नीस बार चोट लगानेसे वह नही फूटा और बीसवी बारकी चोटसे फूट गया, तो फिर क्या वे उन्नीस चोटे व्यर्थ ही गयी ? उस बीसवी चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटे कर रही थी।

१७ निराश होनेका अर्थ है, नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत वढानेके लिए माँ उसे इधर-उधर जाने देती है, परन्तु वह उसे गिरने नही देती। जहाँ वह गिरने लगा कि झट आकर धीरेसे उठा लेती है। ईश्वर भी तुम्हारी ओर देख रहा है। तुम्हारी जीवन-रूपी पतगकी डोरी उसके हाथमे हे। कभी वह डोर खीच लेता है, कभी ढीली छोड़ देता है, परन्तु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमे। गगाके घाट-पर तैरना सिखाते है। घाटपरके वृक्षमे साँकल या डोरी बँधी रहती है। वह कमरसे बाँधकर आदमीको पानीमे फेक देते है। परन्तु सिखानेवाले उस्ताद भी पानीमे रहते ही है। नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डुबकी खाता है, परन्तु अन्तमे वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमे जीवनकी कला सिखा रहा है।

४०. शुक्ल-कृष्ण गति

१८ अत॰ परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर यदि 'मनसा-वाचा-कर्मणा' दिन-रात लड़ते रहोगे, तो अतकी घडी अतिशय उत्तम होगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायँगे। यही बात इस अध्यायके अन्तमे एक रूपकके द्वारा बतायी गयी है। इस रूपकको आप लोग समझ लीजिये। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चन्द्र बढ रहा है, उत्तरायणका

निरभ्र और सुन्दर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्ममे विलीन होता है और जिसकी मृत्युके समय धुआँ फैल रहा है, भीतर-बाहर अँधेरा हो रहा है, कृष्ण पक्षका चन्द्रमा क्षीण हो रहा है, दक्षिणायनका मलिन और अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा है, वह फिरसे जन्म-मरणके फेरेमे पडेगा।

१९ बहुतसे लोग इस रूपकको पढकर चक्करमे पड जाते है। यदि पुण्य-मरणकी इच्छा हो, तो अग्नि, सूर्य, चद्र, आकाश, इन देवताओकी कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिह्न है, यज्ञका चिह्न है। जीवनके अन्तिम क्षणमे भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—"सतत कर्तव्य करते हुए मौत आ जाय, तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ रहे है, कोई काम कर रहे है—ऐसी हालतमे मै मरूँ, तो भर पाया।" ज्वाला जलती रहे, इसका यह अर्थ है। मरण-समयमे भी कर्म करते रहे–यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपाका अर्थ यह है कि बुद्धिकी प्रभा अन्ततक चमकती रहनी चाहिए। चद्रकी कृपाका अर्थ यह है कि मृत्युके समय पवित्र भावना बढती जानी चाहिए। चद्र मनका—भावनाका—देवता है, शुक्ल पक्षके चद्रकी तरह मनकी भक्ति, प्रेम, उत्साह, परोपकार, दया आदि शुद्ध भावनाओका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपासे अभिप्राय है कि हृदयाकाशमे आसक्ति-रूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक बार गाधीजीने कहा—"मै दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हूँ। चरखेको बडी पवित्र वस्तु मानता हूँ। परन्तु अन्त-समयमे उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणा दी है, वह स्वय चरखेकी चिन्ता करनेमे सर्व-समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोके हाथमे चला गया है। चरखेकी चिता छोडकर मुझे परमात्मासे मिलनेको तैयार रहना चाहिए।" साराश यह कि उत्तरायणका अर्थ है, हृदयमे आसक्तिरूपी बादलका न रहना।

२० अन्तिम साँसतक हाथसे कोई-न-कोई सेवाकार्य हो रहा है, भावनाकी पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमे जरा भी आसक्ति नही है, बुद्धि सतेज है– इस तरह जिसकी मृत्यु होगी, वह परमात्मामे लीन हुआ समझो। ऐसा परम मगलमय अन्त लानेके लिए रात-दिन सावधान और दक्ष रहकर लडते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मनपर अशुभ सस्कार न पडने देना चाहिए। ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुन -पुन करते रहना चाहिए।

रविवार, १०-४-'३२

९ मानव-सेवारूप राजविद्या : समर्पणयोग

४१. प्रत्यक्ष अनुभवकी विद्या

१ आज मेरे गलेमे दर्द है। मुझे सदेह है कि मेरी आवाज आपतक पहुँच सकेगी या नही। इस समय साधुचरित बड़े माधवराव पेशवाके अतसमयकी बात स्मरण आ रही है। यह महापुरुष मरण-शय्यापर पडा था। कफ बहुत बढ गया था। कफका अतिसारमे पर्यवसान किया जा सकता है। अत माधवरावने वैद्यसे कहा–"ऐसा करिये कि मेरा कफ हट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे राम-नाम लेनेको मुँह खुल जायगा।" मै भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवान्‌ने कहा–"जैसा गला हो, वैसा ही बोलता रह।" मै जो यहाँ गीता सुना रहा हूँ, वह किसीको उपदेश देनेके लिए नही। जो उससे लाभ उठाना चाहते है, उन्हे अवश्य उससे लाभ होगा, परन्तु मै तो गीता राम-नाम समझकर सुना रहा हूँ। गीताका प्रवचन करते समय मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

२ मै जो यह कह रहा हूँ, उसका आजके अध्यायसे सम्बन्ध है। इस अध्यायमे हरि-नामकी अपूर्व महिमा बतायी गयी है। यह अध्याय गीताके मध्यभागमे खडा है। सारे महाभारतके मध्य गीता और गीताके मध्य यह नवाँ अध्याय! अनेक कारणोसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हो गयी है। कहते है कि ज्ञानदेवने जब अतिम समाधि ली, तो उन्होने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोडा था। इस अध्यायके स्मरणमात्रसे मेरी आँखे छलछलाने लगती है और दिल भर आता है। व्यासदेवका यह कितना बड़ा उपकार है! केवल भारतवर्षपर ही नही, सारी मनुष्य-जातिपर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवान्‌ने अर्जुनको बतायी, वह शब्दोद्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परन्तु दयाभावसे प्रेरित होकर व्यासजीने इसे सस्कृत भाषा-द्वारा प्रकट कर दिया। गुप्त वस्तुको वाणीका रूप दिया।

३ इस अध्यायके आरम्भमे ही भगवान् कहते हैं–

राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम्।

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है। भगवान् उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते है। शब्दोमे न समानेवाली, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटीपर कसी हुई यह वात इस अध्यायमे वतायी गयी है। इससे यह वहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजीने कहा—

को जाने को जैहै जमपुर, को सुर-पुर पर-धामको।
तुलसिहि वहुत भलो लागत, जगजीवन रामगुलामको॥

मरनेके वाद मिलनेवाले स्वर्ग और उसकी कथाओसे यहाँ क्या काम चलेगा? कौन कह सकता है कि स्वर्ग कौन जायगा, यमपुर कौन? यदि ससारमे चार दिन रहना है, तो रामका गुलाम वनकर रहनेमे ही मुझे आनन्द है—ऐसा तुलसीदासजी कहते है। रामका गुलाम होकर रहनेकी मिठास इस अध्यायमे है। प्रत्यक्ष इसी देहमे, इन्ही आँखोसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली वाते इस अध्यायमे वतायी गयी है। जव गुड खाते है, तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरह रामका गुलाम होकर रहनेकी मिठास यहाँ है। इस मृत्यु-लोकके जीवनका मजा प्रत्यक्ष दिखानेवाली यह राज-विद्या इस अध्यायमे कही गयी है। वैसे वह गूढ है, परन्तु भगवान् उसे सवके लिए सुलभ और खोलकर रख रहे है।

४२. सरल मार्ग

४ गीता जिस धर्मका सार है, उस धर्मको 'वैदिक धर्म' कहते है। वैदिक धर्मका अर्थ है, वेदोसे निकला हुआ धर्म। इस जगतीतलपर जितने अति प्राचीन लेख है, उनमे वेद सवसे पहले लेख माने जाते है। इसी कारण भक्त लोग उन्हे अनादि मानते है। इसीसे वेद पूज्य माने जाते है। यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी वे हमारे समाजकी प्राचीन भावनाओके प्राचीनतम चिह्न है। ताम्रपट, शिलालेख, सिक्के, वरतन, प्राणियोके अवशेष आदिकी अपेक्षा ये लिखित साधन वडे ही महत्त्वपूर्ण है। ससारमे पहला ऐतिहासिक प्रमाण यदि कोई है, तो वह वेद है। इन वेदोमे जो धर्म वीजरूपमे था, वृक्ष होते-होते अतमे उसमे गीतारूपी दिव्य मधुर फल लगा। फलके सिवा पेडका हम खाये भी क्या? जव वृक्षमे फल लगते है, तभी हमारे खानेकी चीज उसमे हमे मिल सकती है। वेद-धर्मके सारका भी सार यह गीता है।

५ यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ था, उसमे नाना यज्ञ-याग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएँ वतलायी गयी। यह जो सारा कर्म-काड है, यद्यपि वह निरुपयोगी नही है, तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए।

वह कर्मकाड सवके लिए सुलभ न था। ऊँचे नारियलके पेडपर चढकर फल कौन तोडे, कौन छीले और कौन फोडे ? मै चाहे कितना ही भूखा होऊँ, पर ऊँचे पेडका वह नारियल मुझे मिले कैसे ? मै नीचेसे उसकी ओर देखता हूँ, ऊपरसे नारियल मुझे देखता है। परन्तु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी ? जबतक वह नारियल मेरे हाथमे न पडे, तबतक सब व्यर्थ है। वेदोकी इन नाना क्रियाओमे बडे बारीक विचार रहते है। जन-साधारणको उनका ज्ञान कैसे हो ? वेद-मार्गके सिवा मोक्ष नही, परन्तु वेदोका तो अधिकार नही। तब दूसरोका काम कैसे चले ?

६ अत कृपासागर सत लोग आगे बढकर बोले—"आओ, हम इन वेदोका रस निकाल ले। वेदोका सार थोडेमे निकालकर ससारको दे।" इसलिए तुकाराम महाराज कहते है—

वेद अनत बोलला।
अर्थ इतुका चि साधिला॥

—'वेदोने अनन्त बाते कही है, परन्तु उनमेसे केवल इतना ही साररूप अर्थ निकला है।'

वह अर्थ क्या है ? तो हरि-नाम। हरि-नाम वेदोका सार है। राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रियाँ, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गँवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदोकी अलमारीमे बद मोक्षको भगवान्‌ने राज-मार्गपर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी-सादी, सरल तरकीब ! जिसका जैसा भी सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म कर्म है, सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञमय क्यो न बना दे ? फिर दूसरे यज्ञ-यागकी जरूरत ही क्या है ? अपने नित्यके सीधे-सादे सेवा-कर्मको ही यज्ञ समझकर करो।

७ यही राज-मार्ग है।

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

इस मार्गपर यदि आँखे मूँदकर दौडते चले जाओ, तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नही। दूसरा मार्ग है—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, तलवारकी धार भी शायद थोड़ी भोथरी पडेगी, यह वैदिक मार्ग इतना विकट है। इसकी अपेक्षा रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है। इजीनियर रास्तेकी ऊँचाई धीरे-धीरे बढाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमे ऊँचे शिखरपर ला

बिठाता है। हमे पता भी नही लगता कि इतने ऊँचे चढ रहे हैं। इजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राज-मार्गकी खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खडा है, वही उस सादे कर्मद्वारा वह परमात्माको प्राप्त कर सकता है–ऐसा यह मार्ग है।

८ परमेश्वर क्या कही छिपकर बैठा है ? किसी खोहमे, किसी गलीमे, किसी नदीमे या किसी स्वर्गमे वह लुककर बैठ गया है ? लाल, नीलम, चाँदी-सोना पृथ्वीके पेटमे छिपा रहता है। मोती-मूगा रत्नाकर समुद्रमे छिपे रहते है। वैसा वह परमेश्वररूपी 'लाल रतन' क्या कही छिपा हुआ है ? भगवान्को कहीसे खोदकर निकालना है ? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खडा ही है। ये सभी लोग परमात्माकी ही तो मूर्तियाँ है। भगवान् कहते है— "इस मानवरूपमे प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो भाई।" ईश्वर ही सब चराचर रूपमे प्रकट हो रहा है। उसे खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोकी क्या जरूरत ? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो, उस सबका सबध भगवान्से जोड़ दो, बस, काम बना। तुम रामके गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ, वह स्वाहा, वह स्वधा, वह श्राद्ध, वह तर्पण–सब हमे मोक्षकी ओर ले जायँगे। परन्तु इसमे अधिकारी और अनधिकारीका झमेला खडा होता है। हमे उसकी जरूरत नही। इतना ही करो कि जो कुछ करते हो, वह ईश्वरार्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका सबध ईश्वरसे जोड दो। इस नवे अध्यायकी यही शिक्षा है। इसलिए यह भक्तोको बहुत प्रिय है।

४३. अधिकार-भेदकी झंझट नही

९ कृष्णके सारे जीवनमे उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बाल-कृष्णकी ही विशेष उपासना की जाती है। वह ग्वाल-बालोके साथ गाये चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हँसता-खेलता। इन्द्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले, तो उसने उनसे कहा–"इन्द्रको किसने देखा है ? उसके उपकार ही क्या है ? पर यह गोवर्धन पर्वत हमे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहाँ गाये चरती है। इसमे पानीके सोते बहते है। अत तुम इसीकी पूजा करो।" ऐसी बाते वह उन्हे सिखाया करता। जिन ग्वालोमे खेला, जिन गोपियोसे हँसा-बोला, जिन गाय-बछडोमे रमा, उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खोल दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बताया है। बचपनमे उसका गाय-बछडोमे सबध रहा। बडे होनेपर घोडोसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गाये गद्गद हो जाती और कृष्णके हाथ फेरते ही घोडे फुरफुराने लगते। वे गाय-बछडे और वे रथके घोडे केवल कृष्णमय हो जाते। पाप-योनि माने

है, तो हम झट कहते है—"अरे तू खासा मोटा-ताजा है। भीख माँगना तुझे शोभा नही देता। चला जा।" हम यह देखते है कि उसका भीख माँगना उचित है या नही। भिखारी बेचारा शर्मिन्दा होकर चला जाता है। हममे सहानुभूतिका पूर्ण अभाव होगा तो भीख माँगनेवालेकी योग्यता हम जानेंगे कैसे ?

१३ बचपनमे मैने एक बार अपनी माँसे भिखारियोके बारेमे ऐसी ही शका की थी। उसने जो उत्तर दिया, वह अभीतक मेरे कानोमे गूँज रहा है। मैने उससे कहा—"यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा दीखता है। इसको भिक्षा देनेसे तो व्यसन और आलस्य ही बढेंगे।" गीताका **देशे काले च पात्रे च** यह श्लोक भी मैने उसे सुनाया। वह बोली—"जो भिखारी आया था, वह परमेश्वर ही था ऐसा मानकर पात्रापात्रताका विचार कर। भगवान् क्या अपात्र है ? पात्रा-पात्रताका विचार करनेका तुझे और मुझे क्या अधिकार है ? अधिक विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नही मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" माँके इस उत्तरका कोई प्रत्युत्तर अभीतक मुझे नही सूझा है।

दूसरोको भोजन कराते समय मै उसकी पात्रापात्रताका विचार करता हूँ, परन्तु अपने पेटमे रोटी डालते समय मुझे यह खयालतक नही आ जाता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नही ? जो हमारे दरवाजे आता है, उसे अभद्र भिखारी ही क्यो समझा जाय ? जिसे हम देते है, वह भगवान् ही है, ऐसा हम क्यो न समझे ?

१४ राजयोग कहता है—"तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवान्‌को ही दे डालो। उसीको अर्पण कर दो।" राजयोग उचित स्थान बता रहा है। यहाँ फलत्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नही है और सब-कुछ भगवान्‌को ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रापात्रताका प्रश्न भी हल हो जाता है। भगवान्‌को जो दान दिया गया है, वह सदा-सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्ममे यदि दोष भी रहा हो, तो उसके हाथोमे पड़ते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करे, तो भी दोष बाकी रहता ही है। फिर भी हम जितने शुद्ध होकर कर्म कर सके, करे। बुद्धि ईश्वरकी देन है। उसे अत्यत शुद्धरूपमे काममे लाना हमारा कर्तव्य ही है। ऐसा न करना अपराध होगा। अत पात्रापात्र-विवेक तो करना ही चाहिए, किन्तु भगवद्भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है।

१५ फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय, वैसा ही भगवान्‌को अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-जैसे होती

जाय, वैसे-ही-वैसे उसे भगवान्‌को अर्पण करके मनस्तुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फलको छोडना नही है, उसे भगवान्‌को अर्पण कर देना है। यह तो क्या, मनमे उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ और काम-क्रोधादि विकार भी परमेश्वरको अर्पण करके छुट्टी पाना है।

काम-क्रोध आम्हीं वाहिले विठ्ठलीं।

–'काम-क्रोध मैने प्रभुके चरणोमे अर्पण कर दिये है।'

यहाँ न तो मयमाग्निमे जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दवाना, न मारना।

रोग जाय दुधें साखरें। तरी निंव का पियावा॥

–'जो गुड दीन्हे ते मरे, माहुर काहे देय ?'

१६ इन्द्रियाँ भी साधन है। उन्हे ईश्वरार्पण कर दो। कहते है–"कान हमारी नही सुनते", तो फिर क्या सुनना ही वन्द कर दे ? नही, सुनो जरूर, पर हरि-कथा ही सुनो। न सुनना वडा कठिन है। परन्तु हरिकथारूपी श्रवणका विपय देकर कानका उपयोग करना अधिक सुलभ, मधुर और हितकर है। अपने कान तुम रामको दे दो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इन्द्रियाँ शत्रु नही है। वे अच्छी है। उनकी सामर्थ्यका ठिकाना नही। अत ईश्वरार्पण-वुद्धिसे प्रत्येक इन्द्रियसे काम लेना–यही राज-मार्ग है। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

४५. विशिष्ट क्रियाका आग्रह नही

१७ ऐसा नही कि कोई विशेप क्रिया ही भगवान्‌को अर्पण करनी है। कर्ममात्र उसे सोप दो। शवरीके वे वेर! रामने उन्हे कितने प्रेमसे स्वीकार किया। परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामे जाकर वैठनेकी जरूरत नही है। तुम जहाँ जो भी कर्म करो, वह परमेश्वरको अर्पण करो। माँ वच्चेको सँभालती है, मानो भगवान्‌को ही सँभालती है। वच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वरपर रुद्राभिपेक ही करती है। वालक परमेश्वरीय कृपाकी देन है, ऐसा मानकर माँको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे वच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी और यशोदा कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थी ? उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामे उन्हे अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवा-सगोपन-क्रिया अत्यन्त उच्च है। वह वालक, परमेश्वरकी वह मूर्ति, उस मूर्तिका सेवासे वढकर सद्भाग्य क्या हो सकता है ? यदि एक-दूसरेकी सेवा

करते समय हम ऐसी ही भावना रखे, तो हमारे कर्मोमे कितना परिवर्तन हो जाय! जिसको जो सेवा मिल गयी, वह ईश्वरकी ही सेवा है, ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

१८ किसान बैलकी सेवा करता है। क्या वह बैल तुच्छ है? नही, वेदोमे वामदेवने शक्तिरूपसे विश्वमे व्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है, वही उस किसानके बैलमे भी है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

—'जिसके चार सीग है, तीन पैर है, दो सिर है, सात हाथ है, जो तीन जगह बँधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओमे व्याप्त है, उसी गर्जना करनेवाले विश्वव्यापी बैलकी पूजा किसान करता है।' टीकाकारोने इस एक ऋचाके पाँच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये है। यह बैल है भी विचित्र! आकाशमे गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है, वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमे फसल पैदा करनेवाले इस किसानके बैलमे मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोकी सेवा करेगा, तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरको अर्पण हो जायगी।

१९ इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी, जो चौका लगाकर रसोईघरको साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्त्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोको पुष्टि-तुष्टि-दायक हो, तो उसका यह सारा कर्म यज्ञरूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस माताने एक छोटा-सा यज्ञ-कुण्ड ही जलाया है। परमेश्वरको तृप्त करनेकी भावना मनमे रखकर जो भोजन तैयार किया जायगा, वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जरा इसकी कल्पना तो कीजिये। यदि उस गृहलक्ष्मीके मनमे ऐसी उच्च भावना हो, तो उसे फिर भागवतकी ऋषि-पत्नियोके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताएँ सेवा करके तर गयी होगी और 'मै-मै' करनेवाले पडित और ज्ञानी कोनेमे ही पडे रहे होगे!

४६. सारा जीवन हरिमय हो सकता है

२०. हमारा दैनिक क्षण-क्षणका जीवन मामूली दिखाई देता हो, तो भी वह वास्तवमे वैसा नही होता। उसमे बडा अर्थ भरा है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेगे, तो वह समाधि नही तो क्या

होगी ? हम लोगोमे स्नान करते समय पुरुषसूक्तके पाठ करनेकी रूढि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नानकी क्रियामे इस पुरुषसूक्तका क्या सम्बन्ध ? देखना चाहोगे तो सम्बन्ध जरूर दिखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आँखे ह, उसका मेरे इस स्नानसे क्या सम्बन्ध ! सम्बन्ध यह कि तुम जो लोटाभर जल सिरपर डालते हो, उसमे हजारो बूदे है। वे बूँदे तुम्हारा मस्तक धो रही हैं—तुम्हे निष्पाप बना रही है। मानो तुम्हारे मस्तकपर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोसे सहस्रधारा ही मानो तुमपर बरस रही है। इन बूँदोके रूपमे मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अदरका मैल धो रहे है। ऐसी दिव्य भावना उस स्नानमे उँडेलो, तो वह स्नान कुछ निराला ही हो जायगा, उस स्नानमे अनन्त शक्ति आ जायगी।

२१ कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वरका है तो मामूली होनेपर भी पवित्र हो जाता है, यह बात अनुभव-सिद्ध है। मनमे जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है, वह ईश्वररूप है। मामूली तौरपर कोई बडा आदमी भी जब हमारे घर आता है, तो हम कितनी सफाई रखते है और कैसा बढिया भोजन बनाते है। फिर यदि यह भावना करे कि यह परमेश्वर है, तो भला बताओ, हमारी उस क्रियामे कितना फर्क पड जायगा ! कबीर कपडे बुनता था। उसीमे निमग्न होकर वह गाता—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

यह गाता हुआ झूमता जाता, मानो परमेश्वरको ओढानेके लिए वह चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—

वस्त्रेव भद्रा सुकृता।

"मै अपना यह स्तोत्र सुन्दर हाथोसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको पहनाता हूँ।" कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वरके लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है, सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयगम कल्पना ! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देनेवाला विचार ! यह भावना यदि जीवनमे एक बार आ जाय, तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा ! अँधेरेमे बिजली चमकती है, तो वह अँधेरा एक क्षणमे प्रकाश बन जाता है। वह अधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है ? नही, एक क्षणमे ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड देते

ही जीवनमे एकदम अद्भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगती है। जीवनमे उत्साहका संचार होता है। आज हमारे जीवनमे उत्साह है कहाँ ? हम जी रहे है, क्योकि मरते नही। उत्साहका चारो ओर अकाल है। कलाहीन रोता जीवन! परन्तु जरा यह भाव मनमे लाओ कि हमे अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरके साथ जोडनी है। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जाता है।

२२ इसमे शक नही कि परमेश्वरके एक नाममात्रसे झट परिवर्तन हो जाता है। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है। जरा कहकर तो देखो! कल्पना करो कि सध्या समय किसान काम करके घर लौट रहा है। रास्तेमे उसे कोई यात्री मिल जाता है। वह उससे कहता है—

चाल घरा उभा राहे नारायणा।

'हे पदयात्री नारायण, जरा ठहरो। अब रात हो आयी। भगवन्, मेरे घर चलो।' उस किसानके मुँहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, फिर देखो, उस यात्री-का रूप बदलता है या नही। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा, तो भी पवित्र हो जायगा। यह फर्क भावनाके कारण होता है। भावनामे ही सब-कुछ भरा है। जीवन भावनामय है। बीस सालका एक पराया लडका घर आता है, पिता उसे अपनी कन्या देता है। वह लडका है तो सिर्फ बीस सालका, परन्तु पचास सालका श्वशुर उसके पैर छूता है, यह क्या बात है ? कन्या-अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है! वह जिसे दी जाती है, वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामादके प्रति, वरके प्रति रखी जाती है, उसीको और ऊपर ले जाओ और आगे बढाओ।

२३ कोई कहेगा कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? मै कहता हूँ कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हे सच-झूठ मालूम हो जायगा। उस कन्या-दानमे कोरी शाब्दिक नही, किन्तु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है, तो फिर देखोगे कि कितना फर्क पड जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्व-रूप और उत्तर-रूपमे आकाश-पातालका अन्तर पड जायगा। कुपात्र सुपात्र बन जायगा। दुष्ट सुष्ट बन जायगा। वाल्या भीलका काया-पलट इसी तरह हुआ न ? वीणापर उँगलियाँ नाच रही है, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है और मारनेके लिए दौडनेपर भी शान्ति डिगती नही, बल्कि उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है—वाल्याने ऐसा दृश्य ही इससे पहले कभी नही देखा था। उसने अभीतक दो ही प्रकारके प्राणी देखे थे—

एक तो उसकी कुल्हाडी देखकर भाग जानेवाले या उलटकर उसपर हमला करनेवाले। परन्तु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, बल्कि शान्त भावसे खडे रहे। वाल्याकी कुल्हाडी रुक गयी। नारदकी न भौहे हिली न आँखे झपकी—मधुर भजन ज्यो-का-त्यो जारी रहा। नारदने वाल्यासे पूछा—"तुम्हारी कुल्हाडी क्यो रुक गयी?" वाल्याने कहा—"आपके शान्त भावको देखकर।" नारदने वाल्याका रूपान्तर कर दिया। वह रूपान्तर झूठ था या सच?

२४. सचमुच ससारमे कोई दुष्ट है भी या नही, इसका निर्णय आखिर कौन करे? कोई असली दुष्ट सामने आ जाय, तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट हो भी, तो सत बन जायगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करे? मै कहता हूँ, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है? कुछ लोग कहते है कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते है, इसलिए उन्हे सब-कुछ अच्छा दिखाई पडता है, परन्तु वास्तवमे ऐसा नही होता। तो फिर तुम्हे जैसा दिखाई देता है, उसीको सच मान ले? सृष्टिके सम्यक्ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोके ही पास है। यह क्यो न कहे कि सृष्टि तो अच्छी है, पर तुम दुष्ट हो, इसलिए वह तुम्हे दुष्ट दिखाई देती है। देखो, सृष्टि तो आईना है। तुम जैसे होगे, वैसा ही सामनेकी सृष्टिमे तुम्हारा प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि, वैसा ही सृष्टिका रूप। इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपनी मामूली क्रियामे भी ऐसी भावनाका सचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है। भगवान् यही बात समझा देना चाहते है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—'तुम जो कुछ करो, सब ज्यो-का-त्यो भगवानको अर्पण कर दो।'

२५ मेरी माँ बचपनमे एक कहानी सुनाया करती थी। बात मजेदार है, परन्तु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान् है। एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करूँगी, कृष्णार्पण कर दूँगी। चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मिट्टीका गोला बनाकर बाहर फेकती और कह देती—'कृष्णार्पणमस्तु।' होता क्या था कि वह गोबरका गोला वहाँसे उठता और मदिरमे भगवान्की मूर्तिके मुँहपर जा चिपकता। पुजारी बेचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर बेचारा करे क्या! अन्तमे मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी। जबतक वह स्त्री जीवित है, तबतक मूर्ति कभी साफ रह ही नही सकती। एक दिन वह स्त्री बीमार हो गयी। मरणकी अन्तिम घडी निकट आ गयी। उसने मरण-

को भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मदिरकी मूर्तिके टुकडे-टुकडे हो गये। मूर्ति टूटकर गिर पडी। ऊपरसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए। विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मदिरसे टकराया और वह भी टुकडे-टुकडे हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्णके ध्यानके सामने व्यर्थ है।

२६ साराश यह कि जो कुछ भले-बुरे कर्म हमसे बन पडे, उन सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमे कुछ और सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। ज्वारका दाना यो कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढिया फूली बन जाती है! साफ-सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित और शानदार वह फूली उस दानेके पास रखकर तो देखो, कितना अन्तर है! मगर वह फूली है उस दानेकी ही, इसमे सदेह नही। यह अन्तर केवल अग्निके कारण हो गया। इसी तरह उस कडे दानेको चक्कीमे डालकर पीसो, तो उसका मुलायम आटा बन जायगा। अग्निके सम्पर्कसे फूली बन गयी, चक्कीमे डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रियापर भी हरिस्मरणरूपी सस्कार करनेसे वह अपूर्व हो जायगी। भावनासे मोल बढ जाता है। वह गुडहलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियाँ, तुलसीकी मजरी और दूबके तिनके, इन्हे तुच्छ मत मानो—

तुका म्हणे चवी आलें। जें का मिश्रित विठ्ठलें।

—'तुका कहता है कि जो भी राम-मिश्रित हो जाता है, उसमे स्वाद आ जाता है।'

प्रत्येक बातमे भगवान्‌को मिला दो और फिर अनुभव करो, इस रामरूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या? इस दिव्य मसालेसे बढकर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे? यही ईश्वररूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामे मिला दो, फिर सब-कुछ सुन्दर और रुचिकर हो जायगा।

२७ रातको आठ बजे जब मन्दिरमे आरती हो रही हो, धूपकी सुगन्ध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हो, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माके दर्शन कर रहे है। भगवान् दिनभर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते है—

सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।

पर शकाशील पूछता है—"भला, भगवान् भी कही सोता है?"

अरे, भगवान् क्या नही करता? भले आदमी! अगर भगवान् सोता नहीं, जागता नही तो क्या पत्थर सोयेगा, जागेगा? भाई, भगवान् ही सोता है,

भगवान् ही जागता है और भगवान् ही खाता-पीता है। तुलसीदासजी प्रात-कालके समय भगवान्को जगाते है, विनय करते है—

जागिये रघुनाथ कुँवर पछी बन बोले।

अपने भाई-बहनोको, स्त्री-पुरुषोको रामचन्द्रकी मूर्ति मानकर वे कहते है —'मेरे रामचन्द्रो, अब उठो।" कितना सुन्दर विचार है! नही तो किसी बोर्डिंगको लो। वहाँ लडकोको उठाते समय डाँटकर कहते है—"अरे, उठते हो कि नही ?" प्रात कालकी मगल-वेला! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है ? विश्वामित्रके आश्रममे रामचन्द्र सो रहे है। विश्वामित्र उन्हे उठा रहे है, वाल्मीकि-रामायणमे उसका इस प्रकार वर्णन है—

रामेति मधुरा वाणी विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥

"बेटा राम, उठो अब!" ऐसी मीठी वाणीसे विश्वामित्र उन्हे उठा रहे है। कितना मधुर है यह कर्म! बोर्डिंगका वह जगाना कितना कर्कश! उस सोते हुए लडकेको ऐसा मालूम होता है, मानो कोई सात जन्मका वैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो। परन्तु पुकारनेमे कर्कशता, कठोरता बिलकुल न हो। यदि न जगे, तो फिर दस मिनटके बाद जाओ। आशा रखो कि आज नही तो कल (जल्दी) उठेगा। उसे जगानेके लिए मीठे-मीठे भजन, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगानेकी क्रिया मामूली है, परन्तु हम उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुन्दर बना सकते है! मानो भगवान्को ही उठाना है। परमेश्वरकी मूर्तिको ही धीरेसे जगाना है। नीदसे कैसे जगाना, यह भी एक शास्त्र है।

२८ अपने सब व्यवहारोमे इस कल्पनाका प्रवेश करो। शिक्षण-शास्त्रमे तो इस कल्पनाकी बडी ही आवश्यकता है। लडके क्या है, प्रभुकी मूर्तियाँ है। गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मै इन देवताओकी ही सेवा कर रहा हूँ। तब वह लडकोको ऐसे नही झिडकेगा—"चला जा अपने घर! खडा रह घटे-भर। हाथ आगे कर। कैसे मैले कपडे है ? नाकसे कितनी रेट बह रही है!" बल्कि हलके हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले कपडे धो देगा और फटे कपडे सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करे, तो इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीटकर कही अच्छा नतीजा निकाला जा सकता है ? लडकोको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखे। गुरु शिष्योको हरि-मूर्ति और शिष्य गुरुको हरि-मूर्ति माने। परस्पर ऐसी भावना रखकर यदि दोनो व्यव-

हार करे, तो विद्या तेजस्वी होगी। लडके भी भगवान् और गुरु भी भगवान्! यदि छात्र यह मान ले कि ये गुरु नही, भगवान् शकरकी मूर्ति है, हम इनसे बोधामृत पा रहे है, इनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे है, तो फिर सोच लीजिये कि वे गुरुके साथ कैसा व्यवहार करेंगे।

४७. पापका भय नहीं

२९ सब जगह प्रभु विराजमान है, ऐसी भावना चित्तमे जम जाय, तो फिर एक-दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करे, यह नीति-शास्त्र हमारे अन्तःकरणमे अपने-आप स्फुरित होने लगेगा। शास्त्र पढनेकी जरूरत ही न रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायँगे, पाप पलायन कर जायँगे, दुरितोका तिमिर हट जायगा।

तुकारामने कहा है–

चाल केलासी मोकळा। बोल विठ्ठल वेळोवेळा।
तुज पाप चि नाहीं ऐसें। नाम घेता जवळीं वसे॥

–'चल तुझे छुट्टी देता हूँ। हर श्वासपर विट्ठलका नाम ले। तेरा ऐसा एक भी पाप नही है, जो नाम लेनेपर भी तेरे पास बना रहे।'

अच्छा चलो, तुमको पाप करनेकी छुट्टी! मै देखता हूँ कि तुम पाप करनेसे थकते हो या हरि-नाम पाप जलानेसे थकता है। ऐसा कौन-सा जबर्दस्त और मगरूर पाप है, जो हरि-नामके सामने टिक सकता है? करीं तुजसी करवती। 'करो जितने चाहे पाप।' तुमसे जितने पाप बन सके, करो। तुम्हे खुली छूट है। होने दो हरि-नामकी और तुम्हारे पापोकी कुश्ती! अरे, इस हरि-नाममे इस जन्मके ही नही, अनन्त जन्मोके पाप पलभरमे भस्म कर डालनेकी सामर्थ्य है। गुफामे अनन्त युगका अन्धकार भरा हो, तो भी एक दियासलाई जलाते ही वह भागता है। वह अधकार प्रकाश बन जाता है। पाप जितने पुराने, उतनी ही जल्दी वे नष्ट होते है, क्योकि वे मरनेको ही होते है। पुरानी लकडियोको राख होते देर नही लगती।

३० राम-नामके नजदीक पाप ठहर ही नही सकता। बच्चे कहते है न कि राम कहते ही भूत भागता है। हम बचपनमे रातको श्मशान हो आते थे। श्मशानमे जाकर मेख ठोककर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको सॉप भी रहते, कॉटे भी रहते, बाहर चारो ओर अधकार रहता, फिर भी कुछ नही लगता। भूत कभी दिखाई ही नही दिया। कल्पनाके ही तो भूत! फिर दिखने क्यो लगे? दस वर्षके एक बच्चेमे रातको श्मशानमे जा-आनेकी सामर्थ्य

कहाँसे आ गयी ? राम-नामसे। वह सामर्थ्य सत्यरूप परमात्माकी थी। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है, तो सारी दुनिया उलट पडे, तो भी हरिका दास भयभीत न होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है ? भले ही राक्षस उसका शरीर खाकर पचा डाले, पर उसे सत्य पचनेवाला नही। सत्यको पचा लेनेकी शक्ति ससारमे कही नही। ईश्वर-नामके सामने पाप टिक ही नही सकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त कर लो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य बन जायगा, मलिन जीवन सुन्दर बन जायगा।

४८. थोडा भी मधुर

३१ पत्र पुष्प फल तोयम—कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो पर्याप्त है। कितना दिया, कितना चढाया, यह भी मुद्दा नही, किस भावनासे दिया, यही मुद्दा है।

एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी बात चल रही थी। वह शिक्षण-शास्त्र-सम्बन्धी थी। हम दोनोके विचार मिलते नही थे। अन्तमे प्रोफेसरने कहा—"भाई, मैं अठारह सालसे काम कर रहा हूँ।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते, परन्तु ऐसा न करते हुए जब उन्होने मुझसे कहा कि मै इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हूँ, तो मैने उनसे मजाकमे कहा—"अठारह सालतक बैल यदि यत्रके साथ घूमता रहे, तो क्या वह यत्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा ?"

यत्र-शास्त्रज्ञ और है, आँख मूँदकर चक्कर काटनेवाला बैल और। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और है और शिक्षाका बोझ ढोनेवाला और। जो शास्त्रज्ञ होगा, वह छह महीनेमे ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो अठारह सालतक बोझा ढोनेवाला मजदूर समझ भी नही सकेगा। साराश यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी दाढी दिखायी कि मैने इतने साल काम किया है, किन्तु दाढीसे ज्ञान सिद्ध नही हो सकता।

इसी तरह परमेश्वरके सामने कितना ढेर लगा दिया, इसका महत्त्व नही है। मुद्दा नापका, आकारका, कीमतका नही है, मुद्दा भावनाका है। कितना, क्या अर्पण किया, इससे मतलब नही, बल्कि कैसे किया, यह मुद्दा है। गीतामे कुल सात सौ ही श्लोक है। पर ऐसे भी ग्रन्थ है, जिनमे दस-दस हजार श्लोक है। किन्तु वस्तुका आकार बडा होनेसे उसका उपयोग भी अधिक होगा,

ऐसा नही कह सकते। देखनेकी वात यह है कि वस्तुमे तेज कितना है, सामर्थ्य कितनी है। जीवनमे कितनी क्रिया की है इसका महत्त्व नही। ईश्वरार्पण-बुद्धि-से यदि एक भी क्रिया की हो, तो वही हमे पूरा अनुभव करा देगी। कभी-कभी एक ही पवित्र क्षणमे हमे ऐसा अनुभव होता है, जैसा वारह-वारह वर्षोमे भी नही हो पाता।

३२ आशय यह कि जीवनके सारे कर्मोको, सारी क्रियाओको परमेश्वरको अर्पण कर दो, तो इससे जीवनमे सामर्थ्य आ जायगी। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोडकर उसे ईश्वरको अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योगसे भी एक कदम आगे जाता है।

कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो, फल छोडो। फलकी आशा मत रखो।" यहाँ कर्म-योग समाप्त हो गया। राज-योग कहता है, "कर्मके फलोको छोडो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वरको अर्पण कर दो। वे फूल है, तुम्हे आगे ले जानेवाले साधन है, उन्हे उस मूर्तिपर चढा दो।"

एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्ति जोडकर जीवनको सुन्दर वनाते चलो। फलोको त्यागो मत। उन्हे फेकना नही, वल्कि भगवान्‌से जोड देना है। कर्म योगमे जो फल तोड दिया, उसे राज-योगमे जोड दिया जाता है। वोने और फेक देनेमे फर्क है। बोया हुआ थोडा भी अनन्तगुना होकर मिलता है। फ़ेका हुआ योही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरको अर्पण किया गया है, उसे बोया हुआ समझो। उससे जीवनमे अनन्त आनन्द भर जायगा, अपार पवित्रता आ जायगी।

रविवार, १७-४-'३२

१० | विभूति-चिन्तन

४९. गीताके पूर्वार्धपर दृष्टि

मित्रो,

१ गीताका पूर्वार्ध समाप्त हो गया। उत्तरार्धमे प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम समाप्त कर चुके, उसका थोडेमे सार देख ले, तो अच्छा होगा। पहले अध्यायमे वताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए और स्वधर्ममे प्रवृत्त करानेके

लिए है। दूसरे अध्यायमे जीवनके सिद्धांत, कर्मयोग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमे हुआ। तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायमे कम, विकर्म और अकर्मका स्पष्टीकरण हुआ। कर्मका अर्थ हे—स्वधर्माचरण करना। विकर्मका अर्थ हे—वह मानसिक कर्म, जो स्वधर्माचरणका कर्म बाहरसे करते हुए उसकी सहायताके लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म, दोनोके एकरूप होनेपर जब चित्तकी पूर्ण शुद्धि हो जाती है, सब प्रकारके मैल धुल जाते है, वासना जाती रहती हे, विकार शान्त हो जाते है, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म-दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म-दशा फिर दो प्रकारकी बतायी गयी हे। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म न कर रहे हो, ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना। इस तरह अकर्म-दशा दो प्रकारोसे सिद्ध होती हे। ये दो प्रकार यो दिखाई अलग-अलग देते है, तथापि है पूर्णरूपमे एक ही। इन्हे कर्मयोग और सन्यास, ऐसे दो नाम दिये गये है, फिर भी भीतरकी सारवस्तु दोनोमे एक ही है। अकर्म-दशा अतिम साध्य, आखिरी मजिल है। इस स्थिति-को ही 'मोक्ष' सज्ञा दी गयी है। अत गीताके पहले पाँच अध्यायोमे जीवनका सारा शास्त्र पूरा हो गया।

२ उसके बाद अकर्मरूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग है, मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन है, उनमेसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी छठे अध्यायसे शुरुआत की गयी है। छठे अध्यायमे चित्तकी एकाग्रताके लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास और वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवे अध्यायमे विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया हे। ईश्वरकी ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ, जिज्ञासु-बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतामे जाओ या व्यक्तिगत कामनासे जाओ—किसी तरीकेसे जाओ, परन्तु एक बार उसके दरबारमे पहुँच जरूर जाओ। इस अध्यायका नाम मैने 'प्रपत्तियोग' अर्थात् 'ईश्वरकी शरणमे जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग' दिया है। सातवेमे प्रपत्ति-योग बताकर आठवेमे 'सातत्ययोग' बताया है। मै जो ये नाम बता रहा हूँ, वे पुस्तकमे नही मिलेगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए, वही मै दे रहा हूँ। सातत्य-योगका अर्थ हे—अपनी साधनाको अतकालतक सतत चालू रखना। जिस रास्तेपर एक बार चल पडे, उसीपर लगातार कदम बढाते जाना। कभी चले, कभी नही, ऐसा करनेसे मजिलपर पहुँचनेकी कभी आशा नही हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह न सोचना चाहिए कि अब कहाँतक साधना करते रहे। जबतक फल न मिले, तबतक साधना जारी रखनी चाहिए।

३ इस सातत्य-योगका परिचय देकर नवे अध्यायमे बहुत मामूली, परन्तु जीवनका सारा रग ही बदल देनेवाली एक बात भगवान्‌ने बतायी है, और वह है राज-योग। नवाँ अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घडी होते है, वे सब ईश्वरार्पण कर दो। इस एक ही बातमे सारे शास्त्रसाधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योगमे विलीन हो गयी। समर्पण-योगको ही 'राज-योग' कहते है। यहाँ सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पणरूपी साधन यो बहुत सादा और मामूली दिखता है, परन्तु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि अपने ही घरमे बैठकर गँवारसे लेकर विद्वान्‌तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते हैं। हालाँकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बडे भारी पुण्यकी जरूरत है।

बहुता सुकृताची जोडी। म्हणुनी विठ्ठलीं आवडी।

—'अनेक सुकृतोका योग हुआ है, इसलिए विट्‌ठलमे प्रेम उत्पन्न हुआ है।'

अनत जन्मोका पुण्य सचित हो जाता है, तभी ईश्वरमे प्रीति उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो, तो आँखोसे आँसुओकी रेलपेल मच जाती है। परन्तु भगवान्‌का नाम लेनेपर आँखोमे दो बूँद आँसू भी नही आते—इसका उपाय क्या? सतोके कथनानुसार एक तरहसे यह साधना बहुत ही सरल है। परन्तु दूसरी तरहसे वह कठिन भी है और आजकल तो और भी कठिन हो गयी है।

४ आज तो जड-वादका पर्दा हमारी आँखोपर पड़ा हुआ है। आज तो श्रीगणेश यहीसे होता है कि ईश्वर कही है भी? वह कही भी किसीको प्रतीत ही नही होता। सारा जीवन विकारमय, विषय-लोलुप और विषमतामे भरा है। इस समय तो ऊँचे-ऊँचे विचार करनेवाले जो तत्त्वज्ञानी है, उनके भी विचार इस बातसे आगे जा ही नही सकते कि सबको पेटभर रोटी कैसे मिलेगी। इसमे उनका दोष नही, क्योकि आज हालत ऐसी है कि बहुतोको खानेको भी नही मिलता। आजकी बडी समस्या है रोटी। इस समस्याको हल करनेमे आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्यने रुद्रकी व्याख्या की है—

बुभुक्षमाण रुद्ररूपेण अवतिष्ठते।

भूखे लोग ही रुद्रके अवतार है। उनकी क्षुधा-शान्तिके लिए अनेक तत्त्व-ज्ञान, अनेक वाद और राजनीतिके अनेक प्रकार उठ खडे हुए है। इन समस्याओमेसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नही। आज हमारे सारे भगीरथ-प्रयत्न इसी दिशामे हो रहे है कि परस्पर न लडते हुए सुख-शातिमे

और प्रसन्न मनसे दो कौर रोटी कैसे खाये। ऐसी विचित्र समाज रचना जिस युगमे हो रही है, वहाँ ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे, तो क्या आश्चर्य! परन्तु इसका उपाय क्या है? दसवे अध्यायमे आज हम यही देखनेवाले है कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

५०. परमेश्वर-दर्शनकी सुबोध रीति

५ छोटे बच्चोको पढानेके लिए जो उपाय हम करते है, वही उपाय परमात्माका सर्वत्र दर्शन करनेके लिए इस अध्यायमे बताया गया है। बच्चोको वर्णमाला दो तरहसे सिखायी जाती है। एक तरकीब है, पहले बडे-बडे अक्षर लिखकर बतानेकी। फिर इन्ही अक्षरोको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परन्तु पहले ये बडे थे, अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि है, पहले सीधे-सादे सरल अक्षर और बादमे जटिल सयुक्ताक्षर सिखानेकी। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखे। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोमे प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आँखोमे समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमे आ जाय, तो एक जल-बिंदुमे, मिट्टीके एक कणमे वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमे आ जायगा। बडे 'क' और छोटे 'क' मे अन्तर नही। जो स्थूलमे, वही सूक्ष्ममे। यह एक पद्धति हुई। दूसरी पद्धति है, सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देखे, फिर उसके जटिल रूपको। जिस व्यक्तिमे शुद्ध परमेश्वरीय आविर्भाव सहज रूपमे प्रकट हुआ है, वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है, जैसे राममे प्रकटित परमेश्वरीय आविर्भाव तुरत मनपर अकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झझटका परमेश्वर है। परतु रावण? यह सयुक्ताक्षर है। इसमे कुछ न कुछ मिश्र है। रावणकी तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है। परतु उसमे क्रूरता मिली हुई है। पहले राम-रूपी सरल अक्षरको सीख लो। जिसमे दया है, वत्सलता है, प्रेमभाव है, ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरत पकडमे आ जायगा। रावणमे रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमे जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर सयुक्ताक्षर। सज्जनोमे पहले परमात्माको देखकर अतमे दुर्जनोमे भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी उस बूँदमे है। रामचन्द्रके अन्दरका परमेश्वर ही रावणमे है। जो स्थूलमे है, वही सूक्ष्ममे भी। जो सरलमे है, वही कठिनमे भी। इन दो विधियोसे हमे यह ससाररूपी ग्रन्थ पढना सीखना है।

६ यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आँखोपर गहरा पर्दा पडनेसे यह पुस्तक हमे बन्द हुई-सी जान पडती है। इस सृष्टिरूपी पुस्तकमे सुन्दर अक्षरोमे सर्वत्र परमेश्वर लिखा हुआ है। परतु वह हमे दिखाई नही देता। ईश्वरका दर्शन होनेमे एक वडा विघ्न है। वह यह कि मामूली, सरल, नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमे नही आता और दूरका प्रखर रूप उसे हजम नही होता। यदि उससे कहे कि अपनी मातामे ईश्वरको देखो, तो वह कहेगा—"क्या ईश्वर इतना सीधा और सरल है ?" पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ, तो उसका तेज तुम सह सकोगे ? कुन्तीकी इच्छा हुई कि वह दूर-वाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले, परन्तु उसके निकट आते ही वह जलने लगी। उसका तेज उससे सहन न हुआ। ईश्वर यदि अपनी सारी सामर्थ्यके साथ सामने आकर खडा हो जाय, तो हमे पचता नही। यदि माताके सौम्य रूपमे आकर खडा हो जाय, तो वह जचता नही। पेडा-वर्फी पचती नही और मामूली दूध रुचता नही। ये लक्षण है फूटी किस्मतके, मरणके। ऐसी यह रुग्ण मन-स्थिति परमेश्वरके दर्शनमे वडा भारी विघ्न है। इस मन स्थितिका त्याग करना चाहिए। पहले हम अपने पासके स्थूल और सरल परमात्माको पढ ले और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्माको पढ।

५१. मानवस्थित परमेश्वर

७ परमेश्वरकी विलकुल पहली मूर्ति जो हमारे पास है, वह है स्वयं हमारी माँ। श्रुति कहती है—**मातृदेवो भव**। पैदा होते ही वच्चेको माँके सिवा और कौन दिखाई देता है ? वत्सलताके रूपमे वह परमेश्वरकी मूर्ति ही वहाँ खडी है। उस माताकी ही व्याप्तिको हम वढा ले और **वन्दे मातरम्** कहकर राष्ट्रमाताकी और फिर अखिल भू-माता पृथ्वीकी पूजा करे। परन्तु प्रारम्भमे सवसे ऊँची परमेश्वरकी पहली प्रतिमा, जो वच्चेके सामने आती है, वह है माताके रूपमे। माताकी पूजासे मोक्ष मिलना असम्भव नही है। माताकी पूजा क्या है, मानो वत्सलतासे खडे परमेश्वरकी ही पूजा है। माँ तो एक निमित्त-मात्र है। परमेश्वर उसमे अपनी वत्सलता उँडेलकर उसे नचाता है। उस वेचारीको मालूम भी नही होता कि यह इतनी माया-ममता भीतरसे क्यो उमडती है ? क्या वह यह हिसाव लगाकर वच्चेका लालन-पालन करती है कि वुढापेमे काम आयेगा ? नही-नही, उसने उस वालकको जन्म दिया है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओने उसे उस वच्चेके लिए पागल वना दिया है। वे वेदनाएँ उसे वत्सल वना देती है। वह प्यार किये विना रह ही नही सकती। वह लाचार है। वह माँ मानो निस्सीम सेवाकी मूर्ति है। परमेश्वरकी

यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है, तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वरको माँके ही नामसे पुकारो। माँसे बढकर और ऊँचा शब्द है कहाँ? माँ पहला स्थूल अक्षर है। उसमे ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमे भी देखो। गुरु शिक्षा देते है। वे हमे पशुसे मनुष्य बनाते है। कितने है उनके उपकार! पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु सत। अत्यन्त स्थूल रूपमे खडे इस परमेश्वररूपको पहले देखो। यदि परमेश्वर यहाँ नही दिखाई देगा, तो फिर दीखेगा कहाँ?

८ माता, पिता, गुरु, सत—इनमे परमात्माको देखो। इसी तरह यदि छोटे बालकोमे भी हम परमात्माको देख सके तो कितना मजा आये? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार-ये सब छोटे बालक ही तो थे। परन्तु पुराणकारोको, व्यासादिको समझमे नही आता कि अब उन्हे कहाँ रखे, कहाँ न रखे? शुकदेव, शकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेवका भी यही हाल था। सब-के-सब बालक! परन्तु उनमे परमेश्वर जितने शुद्ध रूपमे प्रकट हुआ है, उतना कही अन्यत्र नही। ईसामसीह बच्चोको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्यने उनसे पूछा—"आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते है, उसे ईश्वरके राज्यमे कौन जा सकेगा?" पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसाने उसे मेजपर खडा करके कहा—"जो इस बच्चेकी तरह होगे, वे वहाँ जा सकेगे।" ईसाका कहना पूर्णत सत्य था। रामदास स्वामी एक बार बच्चोके साथ खेल रहे थे। बच्चोके साथ समर्थ खेल रहे है, यह देखकर कुछ बडे-बूढोको आश्चर्य हुआ। एकने उनसे पूछा—"आज आप यह क्या कर रहे है?" समर्थने जवाब दिया—

वयें पोर ते थोर होऊन गेले।
वयें थोर ते चोर होऊन ठेले।

—'आयुमे जो छोटे थे, वे बडे हो गये और आयुमे जो बडे थे, वे चोर साबित हुए।'

उम्र बढती है तो सीग फूटते है, फिर परमेश्वरका स्मरण कहाँ? छोटे बच्चोके मनपर कोई लेप नही रहता। उनकी बुद्धि निर्मल होती है। बच्चेको हम सिखाते है—"झूठ मत बोलो।" वह पूछता है—"झूठ किसे कहते है?" तब उसे सत्यका सिद्धान्त बताते है—"बात जैसी हो, वैसी ही कहनी चाहिए।" बच्चा उलझनमे पडता है कि क्या जैसा हो, वैसा कहनेके अलावा भी कोई दूसरा तरीका है? जैसा न हो, वैसा कहे कैसे? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो, ऐसा ही समझाने जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे विशुद्ध

परमात्माकी मूर्ति है। प्रौढ लोग उन्हे गलत शिक्षा देते है। साराश, माँ, बाप, गुरु, सत, बच्चे–इनमे यदि हम परमात्माको न देख सके, तो फिर किस रूपमे देखेगे? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वरका दूसरा नही है। परमेश्वरके इन सादे, सौम्य रूपोको पहले पहचानो। इनमे परमेश्वर स्पष्ट और मोटे अक्षरोमे लिखा हुआ है।

५२. सृष्टिस्थित परमेश्वर

९ पहले हम मानवकी सौम्यतम और पावन मूर्तियोमे परमात्माका दर्शन करना सीखे। उसी तरह इस सृष्टिमे भी जो-जो विशाल और मनोहर रूप हैं, उनमे उसके दर्शन पहले करे।

१० वह उषा! सूर्योदयके पहलेकी वह दिव्य प्रभा! उस उषादेवीके गान गाते हुए मस्त होकर ऋषि नाचने लगते थे—"उषे, तू परमेश्वरका सन्देश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिमकणोसे नहाकर आयी है। तू अमृतत्वकी पताका है।" ऐसे भव्य और हृदयस्पर्शी वर्णन ऋषियोने उषाके किये हैं। वैदिक ऋषि कहते है—"तू जो परमेश्वरकी सदेश-वाहिका है, तुझे देखकर यदि परमेश्वरकी पहचान मुझे न हो, उसके स्वरूपका ज्ञान न हो, तो फिर मुझे परमेश्वरका स्वरूप कौन समझा सकेगा?" इतने सुन्दर रूपमे सज-धजकर यह उषा सामने खडी है, परन्तु हमारी दृष्टि उसपर जाती कहाँ है?

११ उसी तरह उस सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन है। वह नाना प्रकारके रग-विरगे चित्र आकाशमे खीचता है। चित्रकार महीनोतक कूँची चलाकर सूर्योदयके चित्र बनाते रहते है। परन्तु प्रात काल उठकर परमेश्वरकी कलाको तो देखो! उस दिव्य कलाके लिए, उस अनन्त सौन्दर्यके लिए भला कोई उपमा दी जा सकेगी? परन्तु देखता कौन है? उधर वह सुन्दर भगवान् खडा है और इधर यह मुँहपर और भी रजाई ओढकर नीदमे पडा है। सूर्य कहता है—"अरे आलसी, तू पडा रहना चाहेगा, किंतु मैं तुझे अवश्य उठाऊँगा।" ऐसा कहकर वह अपनी जीवन-किरणे खिड़कियोमेसे भेजकर उस आलसीको जगा देता है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

सूर्य समस्त स्थावर-जगमकी आत्मा है। चराचरका आधार है। ऋषिने उसे 'मित्र' नाम दिया है—

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो,
मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।

—"यह मित्र लोगोको पुकारता है, उन्हे काम-धाममे लगाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वीको धारण किये है।" सचमुच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमे परमात्माके दर्शन करो।

१२ और वह पावन गगा! जब मै काशीमे था, तो गगाके किनारे जा बैठता था। रात्रिके एकान्त समयमे जाता था। कितना सुन्दर और प्रसन्न था उसका प्रवाह। उसका वह भव्य-गम्भीर प्रवाह और उसमे प्रतिबिम्बित वे आकाशके अनन्त तारे! मै मुग्ध हो जाता। शकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गगा, जिसके तीरपर राज-पाटको तृणवत् त्यागकर राजा लोग तप करने जा बैठते थे, उस गगाका दर्शन करके मुझे असीम शान्ति मिलती थी। उस शातिका वर्णन मै कैसे करूँ? वाणीकी वहाँ सीमा आ जाती है। यह समझमे आने लगा कि हिन्दू यह क्यो चाहता है कि मरनेपर कम-से-कम मेरी अस्थि तो गगामे पड जाय! आप हँसिये, आपके हँसनेसे कुछ बिगडता नही। परन्तु मुझे ये भावनाएँ बहुत पवित्र और सग्रहणीय लगती है। मरते समय गगाजलकी दो बूदे मुँहमे डालते है। ये दो बूँदे क्या है? मानो परमेश्वर ही मुँहमे उतर आता है। उस गगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी-बाहरी कूडा-कर्कट वह माता धो रही है, बहा ले जा रही है। गगामातामे यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे, तो कहाँ दिखाई देगा? सूर्य, नदियाँ, धू-धू करके हिलोरे मारनेवाला वह विशाल सागर—ये सब परमेश्वरकी ही मूर्तियाँ है।

१३ और वह पवन! कहाँसे आता है, कहाँ जाता है, कुछ पता नही। वे भगवान्के दूत ही है। हिन्दुस्तानमे कुछ हवा स्थिर हिमालयपरसे आती है, कुछ गभीर सागरपरसे। यह पवित्र हवा हमारे हृदयको छूती है, हमे जागृत करती है, हमारे कानोमे गुनगुनाती है, परन्तु इस हवाका सदेश सुनता कौन है? जेलरने यदि हमारा चार पक्तियोका पत्र न दिया, तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मदभागी, क्या रखा है उस चिट्ठीमे? परमेश्वरका यह प्रेम-सदेश हवाके साथ हर घडी आ रहा है, उसे सुन!

१४ वेदोमे अग्निकी उपासना बतायी गयी है। अग्नि साक्षात् नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति! दो लकडियोको रगडते ही वह प्रकट हो जाता है। कौन जाने पहले कहाँ छिपा था! कितना गरम, कितना तेजस्वी! वेदोकी जो पहली ध्वनि निकली, वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतार रत्नधातमम्॥

जिस अग्निकी उपासनामे वेदोका आरम्भ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाएँ देखनेसे मुझे जीवात्माकी व्यग्रता याद आ जाती है। वे ज्वालाएँ, वे लपटे, चाहे घरके चूल्हेकी हो, चाहे जगलके दावाग्निकी हो। विरक्तको घर-बार नही होता। वे ज्वालाएँ जहाँ होगी, वहाँ उनकी वह दौड-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती है। वे ज्वालाएँ ऊपर जानेके लिए आतुर रहती हे। ये वैज्ञानिक कहेगे कि ईथरके कारण ये ज्वालाएँ हिलती है, हवाके दबावके कारण हिलती है। परन्तु मेरा तो अर्थ यह है कि ऊपर जो परमात्मा है, तेजस्-समुद्र सूर्य-नारायण है, उससे मिलनेके लिए वे निरतर उछल रही है। जन्मसे लेकर मृत्युतक उनकी दौड-धूप जारी रहती है। सूर्य अशी है और ये ज्वालाएँ अश है। अश अशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटे बुझ जायेंगी, तभी वह दौड-धूप बन्द होगी, वरना नही। सूर्यसे हम बहुत दूरीपर है, यह विचार भी उनके मनमे नही आता। वे इतना ही जानती है कि अपनी शक्तिभर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जाय। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमे जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसलिए वेदकी पहली ध्वनि हुई—अग्निमीळे।

५३. प्राणोंमें स्थित परमेश्वर

१५. और हमारे घरके मवेशी! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममतामयी और प्रेममयी! दो-दो, तीन तीन मीलसे, जगल-झाडियोसे अपने बछडोके लिए कैसी दौडी चली आती है। वैदिक ऋषियोको पहाडो-पर्वतोसे स्वच्छ जल धाराओको लेकर कल-कल करती हुई दौडी आनेवाली उन नदियोको देखकर बछडोके लिए दूध-भरे स्तनोसे रँभाती हुई आनेवाली वत्सल गायोकी याद हो आती है। ऋषि नदीसे कहता है—"हे देवि! दूधकी तरह पवित्र, पावन मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय बछडेको छोडकर जगलमे नही रह सकती, वैसे तू भी पर्वतोमे नही रह सकती। तू सरपट दौडती हुई प्यासे बालकोसे मिलनेके लिए आती है।"—

वाश्रा इव धेनव स्यन्दमाना।

वत्सल गायके रूपमे भगवान् दरवाजेपर खडा है!

१६. और वह घोडा! कितना उम्दा, कितना ईमानदार, कितना वफादार! अरब लोग अपने घोडोसे कितना प्यार करते है! उस अरबकी कहानी तुम्हे मालूम है न? वह विपत्तिग्रस्त अरब एक सौदागरको घोडा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है, परन्तु घोडेकी उन गभीर और प्रेमपूर्ण आँखोपर

उसकी निगाह पडती है, तो वह थैली फेंक देता और कहता है कि "मेरी जान चली जाय, पर मै घोडा नही बेचूँगा। मेरा जो होगा, सो होगा। खाना न मिलेगा, तो न सही। खुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही कैसे प्रेमसे फुरफुराता है, कैसा बढिया उसका अयाल! सचमुच घोडेमे अनमोल गुण है। इस साइकिलमे क्या रखा है? घोडेको खरहरा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोडेपर बैठना सीख रहा था। घोडा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—"घोडा तो बैठने ही नही देता।" मैने उससे कहा—"तुम सिर्फ घोडेपर बैठने ही जाते हो या उसकी कुछ सेवा भी करते हो? सेवा करे दूसरा, और पीठपर सवारी करो तुम, ऐसा कैसे चलेगा? तुम स्वय उसे दाना-पानी दो, खरहरा करो और तब सवारी करो।" वह मित्र यही करने लगा। कुछ दिनो बाद मुझसे आकर बोला—"अब घोडा गिराता नही है।" घोडा तो परमेश्वर है। वह भक्तोको क्यो गिरायेगा? उसकी भक्ति देखकर घोडा झुक गया। घोडा जानना चाहता है कि यह भक्त है या कोई पराया आदमी है? भगवान् श्रीकृष्ण स्वय खरहरा करते थे और अपने पीताम्बरमे दाना लाकर उसे खिलाते थे। टेकरी आयी, नाला आया, कीचड आया कि साइकिल रुकी, मगर घोडा कूदता-फाँदता चला ही जाता है। यह सुन्दर प्रेममय घोडा मानो परमेश्वरकी ही मूर्ति है।

१७ और वह सिंह! बडौदामे मै रहता था। सवेरे-ही-सवेरे उसकी गर्जना-की गभीर ध्वनि कानोमे पडती। उसकी आवाज इतनी गभीर और उम्दा होती कि हृदय डोलने लगता। मन्दिरोके गर्भ-गृहोमे जैसी आवाज गूजती है, वैसी ही उसके हृदय-गर्भकी वह गभीर ध्वनि थी और सिंहकी वह धीरोदात्त, भव्य, सहृदय मुद्रा, उसकी वह शाही शान और शाही वैभव! वह भव्य सुन्दर अयाल, मानो चँवर ही उस वनराजपर ढर रहे हो। बडौदाके एक बगीचेमे यह सिंह था। वह आजाद नही था, पिंजडेमे चक्कर काटता था। उसकी आँखोमे क्रूरताका नाम भी नही था। उसकी मुद्रा और दृष्टिमे करुणा भरी थी। ससारकी मानो उसे कोई चिन्ता ही नही थी। अपने ही ध्यानमे वह मग्न दिखाई देता था। वस्तुत ऐसा लगता है, मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमे मैने एण्ड्रोक्लीज और सिंहकी कहानी पढी थी। कितनी बढिया कहानी है वह! वह भूखा सिंह एण्ड्रोक्लीजके पहलेके उपकारको स्मरण करके उसका मित्र बन जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। यह क्या है? एण्ड्रोक्लीजने सिंहमे रहनेवाले परमेश्वरका दर्शन कर लिया था। भगवान् शकरके पास सिंह सदैव रहता है। सिंह भगवान्की दिव्य विभूति है।

१८ और बाघकी भी क्या कम मौज है ? उसमे बडा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असम्भव नही। भगवान् पाणिनि अरण्यमे बैठे शिष्योको पाठ पढा रहे थे। इतनेमे बाघ आ गया। बालक घबराकर चिल्लाने लगे–व्याघ्र ! व्याघ्र !, पाणिनिने कहा–"अच्छा, 'व्याघ्र' का अर्थ क्या है ?" "व्याजिघ्रतीति 'व्याघ्र' अर्थात् जिसकी घ्राणेंद्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोको भले ही उससे कुछ डर लगा हो, पर भगवान् पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनन्दमय शब्दमात्र हो गया था। बाघको देखकर वे उस शब्दकी व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परन्तु बाघके खा जानेसे क्या हुआ ? पाणिनिके शरीरकी मीठी गध उसे लगी, उसने फाड खाया। परन्तु पाणिनि वहासे भागे नही, क्योकि वे तो शब्द-ब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सब कुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमे भी वे शब्द-ब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महत्ताके कारण ही भाष्योमे जहाँ-जहाँ उसका नाम आता है, वहाँ-वहाँ 'भगवान् पणिनि' कहकर पूज्यभावसे उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनिका अत्यन्त उपकार मानते है–

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नम ॥

ऐसे भगवान् पाणिनि व्याघ्रमे परमात्माका दर्शन कर रहे है। ज्ञानदेवने कहा है–

घरा येवो पा स्वर्ग। कां वरि पडो व्याघ्र।
परी आत्मबुद्धीसी भग। कदा नोहे ॥

–'भले ही घरमे स्वर्ग उतर आये या व्याघ्र आकर चढाई कर दे, फिर भी आत्मबुद्धिमे कोई भग न हो।'

ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गयी थी। वे इस बातको समझ गये थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

१९ वैसा ही वह साँप ! साँपसे लोग बहुत डरते है। परन्तु साँप मानो कर्मठ शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ ! कितना सुन्दर ! जरा भी गदगी उसे बर्दाश्त नही। गन्दे ब्राह्मण कितने ही दिखाई देते है, परन्तु गन्दा साँप कभी किसीने देखा है ? वह मानो एकातवासी ऋषि ही हो। निर्मल, सतेज, मनोहर हार जैसा वह साँप ! उससे क्या डरना ? हमारे पूर्वजोने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिये कि हिंदू-धर्ममे न जाने कैसी-कैसी मूर्खताएँ भरी पडी है, परन्तु नाग-पूजाका विधान उसमे अवश्य है।

बचपनमे मै अपनी माँके लिए चदनसे नागका चित्र बना दिया करता था। मै माँसे कहता—"बाजारमे तो अच्छा चित्र मिलता है माँ!" वह कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नही चाहिए। अपने बच्चेका बनाया चित्र ही अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजा की जाती। यह क्या पागलपन है? परन्तु जरा विचार कीजिये। वह सर्प श्रावण मासमे अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमे पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा? दूर एकातमे रहनेवाला वह ऋषि आपको व्यर्थ कष्ट न हो, इस विचारसे किसी छप्परके नीचे, कहीं लकडियोमे पडा रहता है। वह कम-से-कम जगह घेरता है। परन्तु हम डडा लेकर दौडते है। सकटग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाय, तो क्या उसे मारना उचित है?

कहते है कि सत फ्रासिसको जब जगलमे साँप दिखाई देता, तो वह उससे बडे प्रेम-भावसे कहता—"आ, भाई आ!" साँप उसकी गोदमे खेलते, उसके शरीरपर इधर-उधर चढते। इसे झूठ मत समझिये। प्रेममे अवश्य ऐसी शक्ति रहती है।

साँपको विषैला कहा जाता है, परन्तु मनुष्य क्या कम विषैला है? साँप तो कभी-कभी काटता है। जान-बूझकर नही काटता। सौमे नव्वे तो निर्विष ही होते है। तुम्हारी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करनेवाले असख्य कीडो और जतुओको खाकर रहता है। ऐसा यह उपकारी, शुद्ध, तेजस्वी, एकात-प्रिय सर्प भगवान्‌का रूप है। हमारे तमाम देवताओमे कही-न-कही साँप जरूर आता है। गणेशजीकी कमरमे हमने साँपका कमर-पट्टा बाँध दिया है। शकरके गलेमे साँप लपेट दिये है और भगवान् विष्णुको तो नाग-शय्या ही दे दी है। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह है कि नागके रूपमे यह ईश्वरीय मूर्ति ही व्यक्त हुई है। इस सर्पस्थ परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

२०. ऐसे कितने उदाहरण दूँ? मै तो केवल कल्पना दे रहा हूँ। रामायणका सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामे ही है। रामायणमे पिता-पुत्रोका प्रेम, माँ-बेटोका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, सब-कुछ है, परन्तु मुझे रामायण इस कारण प्रिय नही है। मुझे वह इसलिए पसन्द है कि रामकी मित्रता वानरोसे हुई। आजकल कहते है कि वे वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोका काम ही है, गडे मुर्दोको उखाडना। उनके इस कार्यपर मै आपत्ति नही उठाता, लेकिन रामने यदि असली वानरोसे मित्रता की हो, तो इसमे असभव क्या है? रामका रामत्व, रमणीयत्व

सचमुच इसी बातमे है कि राम और वानर मित्र हो गये। ऐसा ही कृष्णका और गायोका सम्बन्ध है। सारी कृष्ण-पूजाका आधार यह कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिये, तो आपको इर्द-गिर्द गाये खडी मिलगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण! यदि कृष्णसे गायोको अलग कर दो, तो फिर कृष्णमे बाकी क्या रहा? रामसे यदि वानर हटा दिये, तो फिर राममे भी क्या 'राम' बाकी रहा? रामने वानरोमे भी परमात्माके दर्शन किये और उनके साथ प्रेम और घनिष्ठताका सबध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुजी! इस कुजीको आप छोड देगे, तो रामायणकी मधुरता खो देगे। पिता-पुत्रका, माँ-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परतु नर-वानरकी अन्यत्र न दीखनेवाली यह मधुर मैत्री केवल रामायणमे ही मिलेगी। वानरमे स्थित भगवान्‌को रामायणने आत्मसात् किया। वानरोको देखकर ऋषियोको बडा कौतुक होता। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तटतक जमीनपर पैर न रखते हुए वे वानर एक पेड़से दूसरे पेडपर कूदते-फाँदते और क्रीडा करते घूमते थे। ऐसे उस सघन वनको और उसमे क्रीडा करनेवाले वानरोको देखकर उन सहृदय ऋषियोके मनमे कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्मकी आँखे कैसी होती है, यह बताते हुए उपनिषदोने बदरोकी आँखोकी उपमा दी है। बदरो-की आँखे बडी चचल होती है। चारो ओर उनकी निगाह दौडती है। ब्रह्मकी आँखे ऐसी ही होनी चाहिए। आँखे स्थिर रखनेसे ईश्वरका काम नही चलेगा। हम-आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते है, परन्तु यदि ईश्वर ध्यानस्थ हो जाय, तो फिर ससारका क्या हाल हो? अत ऋषियोको बदरोमे सबकी चिता रखनेवाले ब्रह्मकी आँखे दिखाई देती है। वानरोमे परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

२१ और वह मोर! महाराष्ट्रमे मोर बहुत नही है, परन्तु गुजरातमे उनकी विपुलता है। मै गुजरातमे था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखाई देते थे। जब आकाशमे बादल छा रहे हो, मेह बरसनेकी तैयारी हो, आकाशका रग गहरा श्याम हो गया हो, तब मोर कूकता है। हृदयसे खिचकर निकलनेवाली उसकी वह तीव्र पुकार एक बार सुनो, तो पता चले। हमारा सारा सगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनिपर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज है—षड्ज रौति। यह पहला 'षड्ज' हमे मोरसे मिला। फिर घटा-बढाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गडी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गभीर ध्वनि और मेघकी गडगड गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी यह पूँछकी छतरी! अहा हा! उसकी उस छतरीके सौंदर्यके सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते है,

परन्तु मयूर-पुच्छकी छतरीके सामने वे क्या सजेंगे ? कैसा उसका भव्य दृश्य ! वे हजारों आँखें, वे नाना रंग, वे अनंत छटाएँ, वह अद्भुत सुन्दर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेल-बूटा ! जरा देखिये तो उस छतरीको और उसमें परमात्मा भी देखिये ! यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खड़ा है, परन्तु उसे न देखनेवाले हम अभागे हैं ! तुकारामने कहा है—

देव आहे सुकाळ देशीं, अभाग्यासी दुर्भिक्ष ।

–'प्रभु सर्वत्र फला-फूला है, लेकिन अभागीको अकाल है ।'

संतोंके लिए सर्वत्र समृद्धि है। परंतु हमारे लिए सर्वत्र दुष्काल है।

२२ और मैं उस कोयलको कैसे भुलाऊँ ? किसे पुकारती है वह ? गर्मियोंमें नदी-नाले सूख गये, परन्तु वृक्षोंमें नव-पल्लव छिटक रहे हैं। वह यह तो नहीं पूछ रही है कि किसने उसे यह वैभव प्रदान किया, कहाँ है वह वैभवदाता ? कैसी वह उत्कट मधुर कूक ! हिन्दू-धर्ममें कोयलके व्रतका तो विधान ही है। स्त्रियाँ व्रत लेती हैं कि कोयलकी आवाज सुने विना वे भोजन नहीं करेंगी। कोयलके रूपमें प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है। वह कोयल कितनी सुन्दर कूक लगाती है, मानो उपनिषद् हो गाती है। उसकी कुहू-कुहू तो कानोंमें पड़ती है, परन्तु वह दिखाई नहीं देती। कवि वर्डस्वर्थ उसके पीछे पागल होकर जंगल-जंगल उसकी खोजमें भटकता है। इंग्लैण्डका महान् कवि कोयलको खोजता है, परन्तु भारतमें तो घरोंकी सामान्य स्त्रियाँ कोयल न दिखाई दे, तो खाना भी नहीं खातीं। इस कोकिलाव्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियोंने महान् कविकी पदवी प्राप्त कर ली है। जो कोयल परम आनन्दकी मधुर ध्वनि सुनाती है, उसके रूपमें सुन्दर परमात्मा ही प्रकट हुआ है।

२३ कोयल सुन्दर, तो वह कौआ क्या असुन्दर है ? कौएका भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रंग, वह तीव्र आवाज ! वह आवाज क्या बुरी है ? नहीं, वह भी मीठी है। वह पंख फड़फड़ाता हुआ आता है, तो कैसा सुन्दर लगता है। छोटे बच्चोंका चित्त खींच लेता है। नन्हा बच्चा बन्द घरमें खाना नहीं खाता। बाहर आँगनमें बैठकर उसे जिमाना पड़ता है और चिड़ियाँ, कौए दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है। कौएके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा क्या पागल है ? वह पागल नहीं, उसमें ज्ञान भरा हुआ है। कौएके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा तुरन्त एकरूप हो जाता है। माता चावलपर चाहे दही परोसे, दूध परोसे या शकर परोसे, बच्चेको उसमें कोई रस नहीं। उसे आनन्द है, कौएके पंख फड़फड़ानेमें, उसके मुँह

बिचकानेमे । सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोको इतना कौतूहल मालूम होता है, उसी-पर तो सारी 'ईसप-नीति' रची गयी है । ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था। अपनी प्रिय पुस्तकोकी सूचीमे मै ईसप-नीतिका नाम सबसे पहला रखूँगा, भूलूँगा नही । ईसपके राज्यमे दो हाथोवाला, दो पाँवोवाला मनुष्य ही अकेला नही है । उसमे सियार, कुत्ते, कौए, हिरन, खरगोश, कछुए, साँप, केचुए-सभी बातचीत करते है, हँसते है । एक प्रचण्ड सम्मेलन ही समझिये न ! ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है । उसे दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया है ।

रामायण भी इसी तत्त्वपर, इसी दृष्टिपर रची गयी है । तुलसीदासने रामकी बाललीलाका वर्णन किया है । राम आँगनमे खेल रहे है । एक कौआ पास आता है, राम उसे धीरेसे पकडना चाहते है । कौआ पीछे फुदक जाता है । अतमे राम थक जाते है, परन्तु उन्हे एक युक्ति सूझती है । मिठाईका एक टुकडा लेकर राम कौएके पास जाते है। राम टुकड़ा जरा आगे बढाते है, कौआ कुछ नजदीक आता है । इस तरहके वर्णनमे तुलसीदासने कई चौपाइयाँ लिख डाली है, क्योकि वह कौआ परमेश्वर है । रामकी मूर्तिका अश ही उस कौएमे भी है। राम और कौएकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है ।

५४. दुर्जनमें भी परमेश्वरका दर्शन

२४ साराश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमे, विविध रूपोमे-पवित्र नदियोके रूपमे, विशाल पर्वतोके रूपमे, गभीर सागरके रूपमे, वत्सल गोमाताके रूपमे, उम्दा घोडेके रूपमे, सहृदय सिहके रूपमे, मधुर कोयलके रूपमे, सुन्दर मोरके रूपमे, स्वच्छ और एकातप्रिय सर्पके रूपमे, पख फडफड़ानेवाले कौएके रूपमे, छटपटानेवाली ज्वालाओके रूपमे, प्रशान्त तारोके रूपमे, सर्वत्र परमात्मा भरा हुआ है । आँखोको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और सयुक्ताक्षर सीखने चाहिए । सयुक्ताक्षर न सीख लेंगे, तबतक पढनेमे प्रगति नही हो सकती । सयुक्ताक्षर कदम-कदमपर आयेगे । दुर्जनोमे स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिए । राम समझमे आता है, परन्तु रावण भी समझमे आना चाहिए । प्रह्लाद जँचता है, परन्तु हिरण्यकशिपु भी जँचना चाहिए । वेदमे कहा है—

> नमो नम स्तेनाना पतये नमो नम ।
> नम पुञ्जिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्य ।
> ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
> ब्रह्मैवेमे कितवा. ।

—"उन डाकुओके सरदारोको नमस्कार! उन क्रूरोको, उन हिंसकोको नमस्कार। ये ठग, ये चोर, ये डाकू, सब ब्रह्म ही हैं। इन सबको नमस्कार!"

इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये, अब कठिन अक्षरोको भी सीखो। कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमे नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है। यहाँ शुद्ध परमात्मा नही है, मिश्रण है, परन्तु इस परमात्माको भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदासने रावणको रामका विरोधी भक्त कहा है। हाँ, इस भक्तके रग-ढग कुछ भिन्न है। आगपर पाँव पडनेपर वह जलता है, सूज जाता है, परन्तु सेक करनेसे सूजन पटक जाती है। तेज एक ही, पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न है। राम और रावणमे आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया, तो भी वह है एक ही परमेश्वरका।

स्थूल और सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर और सयुक्ताक्षर सब सीखो और अन्तमे यह अनुभव करो कि परमेश्वरसे खाली एक भी स्थान नही है। अणु-रेणुमे भी वही है। चोटीसे लेकर ब्रह्माडतक सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता करनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुन्दर परमात्मा चारो ओर सर्वत्र खडा है।

रविवार, २४-४-'३२

विश्वरूप-दर्शन | ११

५५. विश्वरूप-दर्शनकी अर्जुनकी उत्कण्ठा

भाइयो,

१ पिछली बार हमने देखा कि इस विश्वकी अनत वस्तुओमे व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचाने और हमारी आँखोको जो यह विराट् प्रदर्शनी दिखाई देती है, उसे आत्मसात् कैसे करे। पहले स्थूल फिर सूक्ष्म, पहले सरल फिर मिश्र—इस प्रकार सब चीजोमे भगवान्को देखे, उसका साक्षात्कार करे, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखे—यह हमने पिछले अध्यायमे देखा।

अब, आज ग्यारहवाँ अध्याय देखना है। इस अध्यायमे भगवान्ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुनपर अपनी परम कृपा प्रकट की है। अर्जुनने भगवान्ने कहा–"प्रभो, मै आपका वह मपूर्ण रूप देखना चाहता हूँ, जिसमे आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आँखोसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह माँग विश्वरूप-दशनकी थी।

२ हम 'विश्व', 'जगत्'–इन शब्दोका प्रयोग करते है। यह 'जगत्' विश्वका एक छोटा-सा भाग है। इस छोटे-से टुकड़ेका भी आकलन ठीकसे हमे नही होता। सारे विश्वकी दृष्टिसे देखे, तो यह जगत्, जो हमे इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ लगेगा। रातके समय आकाशकी ओर जरा दृष्टि डाले तो अनन्त गोले दिखाई देते है। आकाशके आँगनकी वह रगवल्ली, वे छोटे-छोटे सुन्दर फूल, वे लुकलुक करनेवाली लाखो तारिकाएँ इन सबका स्वरूप क्या आप जानते है ? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाएँ महान् प्रचड है। उनके अन्दर अनन्त सूर्योका समावेश हो जायगा। वे रसमय, तेजोमय, ज्वलत धातुओके गोल पिड है। ऐसे इन अनत पिडोका हिसाब कौन लगायेगा ? न इनका अत ह, न पार। खाली आँखोसे ये हजारो दीखते है। दूरवीनसे देखे, तो करोडो दिखाई देते हे। उससे बडी दूरबीन हो, तो परार्धो दीखने लगेगे और यह समझमे आना कठिन हो जायगा कि आखिर इसका अत कहाँ है, कैसा हे ? यह जो अनत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकडा 'जगत्' कहलाता है। परन्तु यह जगत् भी कितना विशालकाय दीख पडता है।

३ यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू है। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह है काल। यदि हम पिछले कालपर दृष्टि दौड़ायें, तो इतिहासकी मर्यादामे बहुत हुआ तो दस हजार सालतक पीछे जा सकेगे, आगेका काल तो ध्यानमे ही नही आता। इतिहास-काल दस हजार वर्षोका और स्वय हमारा जीवन-काल तो मुश्किलसे सौ सालका है। वास्तवमे कालका विस्तार अनादि और अनत है। कितना काल बीता है, इसका कोई हिसाब नही। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नही होती। जैसे विश्वकी तुलनामे हमारा 'जगत्' सर्वथा तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस हजार साल अनतकालकी तुलनामे कुछ भी नही है। भूतकाल अनादि है और भविष्यकाल अनन्त है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल सचमुच कहाँ है, यह वताने जाते है, तबतक वह भूतकालमे विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यन्त चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मै अभी बोल रहा हूँ, परन्तु मुँहसे शब्द निकला कि

वह भूतकालमे विलीन हुआ। इस तरह यह महान् काल-नदी सतत वह रही है। न उसके उद्गमका पता है, न अतका। बीचका थोडा-सा प्रवाहमात्र हमे दिखाई देता है।

४ इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचड विस्तार और दूसरी ओर कालका प्रचण्ड प्रवाह–इन दोनो दृष्टियोसे सृष्टिकी ओर देखेगे, तो समझ जायेगे कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खीचनेपर भी इसका कोई अन्त नही आ सकता। तीनो काल और तीनो स्थलमे, भूत-भविष्य-वर्तमानमे एव ऊपर-नीचे, यहॉ-वहॉ, सव जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर, वह एक साथ एकत्र दिखाई दे, परमेश्वरका इस रूपमे दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुनके मनमे उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेसे ग्यारहवॉ अध्याय निकला है।

५ अर्जुन भगवान्को वहुत प्यारा था। कितना प्यारा था? इतना कि दसवे अध्यायमे किन-किन स्वरूपोमे मेरा चितन करो, यह वताते हुए भगवान् कहते है–"पाडवोमे जो अर्जुन है, उसके रूपमे मेरा चितन करो।" श्रीकृष्ण कहते है–**पाण्डवाना धनञ्जय**। इससे अधिक प्रेमका पागलपन, प्रेमोन्मत्तता कहॉ होगी? यह इस वातका उदाहरण हे कि प्रेम कितना पागल हो सकता है। अर्जुनपर भगवान्का अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवॉ अध्याय उस प्रीतिका प्रसादरूप है। दिव्य रूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवान्ने उसे दिव्य दृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुनको उन्होने प्रेमका प्रसाद दिया।

५६. छोटी मूर्तिमे भी पूर्ण दर्शन सम्भव

६ उस दिव्य रूपका सुन्दर वर्णन, भव्य वर्णन, इस अध्यायमे हे। इतना सव होते हुए भी कहना चाहिए कि विश्वरूपके लिए मुझे कोई खास लोभ नही। मै छोटे-से रूपपर ही सतुष्ट हूँ। जो छोटा-सा सुन्दर शानदार रूप मुझे दीखता है, उसकी माधुरीका अनुभव करना मै सीख गया हूँ। परमेश्वर टुकडोमे विभाजित नही हे। मुझे ऐसा नही लगता कि परमेश्वरका जो रूप हम देख पाते हे, वह उसका एक टुकडा है और शेष परमेश्वर वाहर वचा हुआ हे। वल्कि मै देखता हूँ कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमे व्याप्त है, वही सपूर्ण रूपमे जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमे, मिट्टीके एक कणमे भी व्याप्त है। उसमे कोई कमी नही। अमृतके सिधुमे जो मिठास है, वही एक विंदुमे भी होती हे। मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी वूँद मुझे मिल गयी हे, उसीकी मिठास मे चखता रहूँ। अमृतका दृष्टात मैने जान-वूझकर लिया हे। पानी या दूधका दृष्टात नही लिया है। एक प्याले दूधमे जो मिठास होगी, वही मिठास

लोटेभर दूधमे होगी, परन्तु मिठास चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नही है। एक बूद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमे पुष्टि अधिक है। परन्तु अमृतके उदाहरणमे यह बात नही है। अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूँदमे है ही, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। बूँदभर अमृत भी गलेके नीचे उतर गया, तो उससे अमृतत्व ही मिलेगा।

उसी तरह जो दिव्यता, पवित्रता, परमेश्वरके विराट् स्वरूपमे है, वही एक छोटी-सी मूर्तिमे भी है। मान लो कि किसीने मुट्ठीभर गेहूँ मुझे नमूनेके तौरपर लाकर दिये, तब भी यदि मुझे गेहूँकी पहचान न हुई, तो फिर बोरीभर गेहूँ भी यदि मेरे सामने रख दिये जायँ, तो वह कैसे होगी? ईश्वरका जो छोटा नमूना मेरी आँखोके सामने है, उससे यदि ईश्वरको मैने नही पहचाना, तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मै कैसे पहचानूँगा? छोटे-बडेमे क्या है? छोटे रूपको पहचान लिया, तो बडेकी पहचान हो ही गयी। अत मुझे यह आकाक्षा नही होती कि ईश्वर अपना बड़ा रूप मुझे दिखाये। अर्जुनकी तरह विश्वरूप-दर्शनकी माँग करनेकी योग्यता भी मुझमे नही है। फिर जो कुछ मुझे दीखता है, वह विश्वरूपका कोई टुकडा है, ऐसी बात नही। किसी टूटी तसवीरका कोई टुकडा ले आये, तो उससे सारे चित्रका खयाल हमे नही हो सकता। परतु परमात्मा इस तरह टुकडोसे बना हुआ नही है। परमात्मा न कटा हुआ है, न खड-खड किया हुआ है। एक छोटे से स्वरूपमे भी वह अनन्त परमेश्वर सारा-का-सारा समाया हुआ है। छोटे फोटो और बडे फोटोमे क्या अतर है? जो बाते बड़े फोटोमे होती है, वही सब जैसी-की-तैसी छोटे फोटोमे भी होती है। छोटा फोटो बडे फोटोका टुकडा नही है। छोटे टाइपके अक्षर हो, तो भी वही अर्थ होगा और बडे टाइपके अक्षर हो, तो भी वही होगा। बडे टाइपमे बड़ा अर्थ और छोटेमे छोटा अर्थ होता हो, सो बात नही। मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है।

७ मूर्ति-पूजापर अबतक अनेक लोगोने आक्रमण किये है। बाहरके और यहाके भी कुछ विचारकोने मूर्ति-पूजाको दोष लगाया है। किन्तु मै ज्यो-ज्यो विचार करता हूँ, त्यो-त्यो मूर्ति-पूजाकी दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट होती जाती है। मूर्ति-पूजाका अर्थ क्या है? एक छोटी-सी चीजमे सार विश्वको अनुभव करनेकी विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गाँवमे सारे ब्रह्माडको देखनेकी विद्या सीखना क्या गलत है? यह कल्पनाकी बात नही, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट् स्वरूपमे जो कुछ है, वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमे है, वही एक मृत्-कणमे है। उस मिट्टीके ढेलेमे आम, केले, गेहूँ, सोना, ताँबा, चाँदी,

सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके भीतर भरी है। जिस तरह किसी छोटी नाटक-मडलीमे वे ही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रगमचपर आते है, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमे काम भी करता है, उसी तरह परमात्मा भी अनत नाटक लिखता है और स्वय अनन्त पात्रोके रूपमे सजकर रगभूमिपर अभिनय करता है। इस अनत नाटकका एक पात्र पहचान लेनेपर सारे पात्र पहचान लिये, ऐसा हो जायगा।

८ काव्यकी उपमा, दृष्टात आदिके लिए जो आधार है, वही मूर्ति-पूजाके लिए भी है। किसी गोल वस्तुको हम देखते है, तो हमे आनद होता है, क्योकि उसमे एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वाङ्ग-सुन्दर है। उसमे व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु यानी व्यवस्थित ईश्वरकी मूर्ति। परतु जगलमे उगा हुआ टेढा-तिरछा पेड भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमे ईश्वरकी स्वच्छदता है। उस पेडको कोई बधन नही है। ईश्वरको कौन बन्धनमे डाल सकता है? वह बधनातीत परमेश्वर उस टेढे-मेढे पेडमे है। कोई सीधा-सरल खभा देखते है, तो उसमे ईश्वरकी समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खभा देखते है, तो आकाशमे नक्षत्रोके बेल बूटे काढनेवाला परमेश्वर उसमे दिखाई देता है। किसी कटे-छँटे व्यवस्थित बागमे ईश्वरका सयमी रूप दिखाई देता है, तो किसी विशाल वनमे ईश्वरकी भव्यता और स्वतन्त्रताके दर्शन होते है। जगलमे भी आनन्द मिलता है और व्यवस्थित बगीचेमे भी। तो फिर क्या हम पागल है? नही, आनन्द दोनोमे ही होता है, क्योकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमे प्रकट हुआ है। गोल-चिकने शाल-ग्रामकी बटियामे जो ईश्वरी तेज है, वही एक ऊबड-खाबड पत्थरके गणपतिमे है। अत मुझे वह विराट् स्वरूप अलगसे देखनेको न मिला, तो चिता नही।

९ परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओमे भिन्न-भिन्न गुणोके द्वारा प्रकट हुआ है, इसीलिए हमे आनद होता है, और उस वस्तुके प्रति आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनन्द होता है, वह अकारण नही। आनद होता क्यो है? उसमे हमारा कुछ-न-कुछ सबध रहता है, इसीसे आनन्द होता है। बच्चेको देखते ही माँका हिया उछलने लगता है, क्योकि वह सबध पहचानती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोडो। मुझमे जो परमेश्वर है, वही उस वस्तुमे है। इस प्रकार सबध बढाना ही आनन्द बढाना है। आनन्दकी और कोई उपपत्ति नही है। आप प्रेमका सबध सब जगह जोडने लगिये, फिर देखिये, क्या चमत्कार होता है! फिर अनत सृष्टिमे व्याप्त परमात्मा अणु-

रेणुमे भी दिखाई देगा। एक वार यह दृष्टि आ जाय, तो फिर क्या चाहिए? परन्तु इसके लिए इद्रियोको अभ्यास डालनेकी जरूरत है। हमारी भोग-वासना छूटकर जब हमे प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी, तब फिर प्रत्येक वस्तुमे ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदोमे इस बातका बडा सुन्दर वर्णन है कि आत्माका रग कैसा है? आत्माका रग कौन-सा बताया जाय? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते है–

यथा अय इन्द्रगोप ।

यह जो लाल-लाल रेशमका मुलायम इन्द्रगोप–बीरबहूटी है, उसीकी तरह आत्माका रूप है। उस इन्द्रगोपको देखते है, तो कितना आनद होता है! यह आनद क्यो होता है? मुझमे जो भाव है, वही उस इद्रगोपमे है। मुझसे उसका कोई सबध न होता, तो आनन्द होता? मेरे अन्दर जो सुन्दर आत्मा है, वही इन्द्रगोपमे भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यो देते है? उससे आनद क्यो होता है? हम उपमा इसलिए देते है कि उन दो वस्तुओमे साम्य होता है और इसीसे आनद होता है। यदि उपमेय और उपमान सर्वथा भिन्न हो, तो हम उसे पागल कहेगे। पर यदि कोई यह कहे कि तारे फूलोकी तरह है, तो उनमे साम्य दिखाई देनेसे आनन्द होगा। नमक मिर्चकी तरह है, ऐसा कहनेसे सादृश्यका अनुभव नही होता, परन्तु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गयी हो, उसे ऐसा दर्शन हुआ हो कि जो परमात्मा नमकमे है, वही मिर्चमे है, वह 'नमक कैसा?' तो 'मिर्चकी तरह है', इस कथनमे भी आनन्द अनुभव करेगा। साराश यह है कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमे ओतप्रोत है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नही।

५७. विराट विश्वरूप पचेगा भी नही

१० फिर वह विराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा? छोटे, सगुण सुन्दर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है, उसका अनुभव विश्वरूप देखनेमे कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुनकी हो गयी। वह थर-थर कॉपते हुए अन्तमे कहता है, "भगवान्! अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ।" अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा न करो। यही अच्छा है कि ईश्वर, जो तीनो कालो और तीनो स्थलोमे व्याप्त है, वैसा ही रहे। वह सिमटकर यदि धधकता हुआ गोला वनकर मेरे सामने आ खडा हो, तो मेरी क्या दशा होगी? ये तारे कितने शान्त दिखाई देते है! ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे वे मुझसे वात कर रहे हो। परन्तु दृष्टिको शान्त करनेवाली वही तारिका

यदि निकट आ जाय तो ? वह धधकती हुई आग ही है। मैं उसमें भस्म ही होकर रहूँगा। ईश्वरके ये अनन्त ब्रह्मांड जहाँ हैं, वहाँ वैसे ही रहने दीजिये। उन सबको एक ही कमरेमें इकट्ठा कर देनेमें क्या बहार है! बबईके उस कबूतर-खानेमें हजारों कबूतर रहते हैं, वहाँ क्या आजादी है ? वह दृश्य बडा अटपटा मालूम होता है। मजा इसीमें है, जो यह सृष्टि ऊपर, नीचे, यहाँ, तीनो स्थलोंमें विभाजित है।

११ जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कालात्मक सृष्टिपर भी लागू होती है। हमें भूतकालकी स्मृति नही रहती और भविष्यका ज्ञान नही होता, इसमें हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफमें पाँच ऐसी वस्तुएँ बतायी गयी हैं, जिनमें सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्य प्राणीकी सत्ता बिलकुल नही है। उनमें एक है—भविष्यकालका ज्ञान। हम अन्दाज जरूर लगाते है, परतु अदाजका अर्थ ज्ञान नही है। भविष्यका ज्ञान हमें नही होता, यह हमारे कल्याणकी ही बात है। वैसे ही भूतकालकी स्मृति हमें नही रहती, यह भी सचमुच बडी अच्छी बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आये, तो भी उसके भूतकालकी स्मृतिके कारण मेरे मनमें उसके प्रति आदर नही होता। वह कितना ही कहे, उसके पिछले पापोको मै सहसा भूल नही सकता। ससार उसके पापोको उसी अवस्थामें भूल सकेगा, जब कि वह मनुष्य मरकर दूसरे रूपमें हमारे सामने आयेगा।

पूर्व-स्मरणमें विकार बढते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो जाय, तो फिर सब समाप्त! पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह युक्ति है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाएँ असह्य लगती हैं, तब फिर पिछले जन्मोके कूडे-करकटकी खोज क्यो करें ? अपने इसी जन्मके कमरेमें क्या कम कूडा-करकट है ? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते है। यह भूलना अच्छा ही है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्यके लिए भूतकालका विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरगजेबने जुल्म किया था, इसको कितने दिनोतक रटते रहोगे ? गुजरातीमें रतनबाईका एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत बार यहाँ सुनते हैं। उसके अतमें कहा है—"ससारमें सबकी कीर्ति ही शेष रहेगी। पापको लोग भूल जायँगे।" यह काल छननी कर रहा है। इतिहासमें जितना अच्छा हो, उतना ले लेना चाहिए। पाप फेक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोडकर सिर्फ अच्छाईको ही याद रखे, तो कैसी बहार हो! परन्तु ऐसा नही होता। इसलिए विस्मृतिकी बडी आवश्यकता है। इसके लिए भगवान्ने मृत्युका निर्माण किया है।

१२ साराश यह कि यह जगत् जैसा है, वैसा ही मगलरूप है। इस कालस्थलात्मक जगत्को एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नही है। अति परिचयमे मजा नही है। कुछ चीजोसे घनिष्ठता बढानी होती है, तो कुछ चीजोसे दूर रहना होता है। गुरु होगा, तो नम्रतापूर्वक दूर बैठेगे। परन्तु मॉकी गोदमे जाकर बैठेगे। जिस मूर्तिके साथ जैसा व्यवहार करनेकी जरूरत हो, वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम निकट ले, परन्तु आगसे बचकर रहे। तारे दूरसे ही सुन्दर लगते है। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली वह सृष्टि अति निकट लानेसे हमे अधिक आनन्द होगा, सो बात नही। जो चीज जहॉ है, उसे वही रहने देनेमे मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है, वह निकट लानेसे सुखदायी ही होगी, ऐसा नही कह सकते। उसे वही दूर रखकर ही उसका रस चखना चाहिए। ढीठ बनकर, बहुत घनिष्ठता बढाकर अति परिचय कर लेनेमे कुछ सार नहीं है।

१३ साराश यह कि तीनो काल हमारे सामने खडे नही है, सो अच्छा ही है। तीनो कालोका ज्ञान होनेसे आनन्द अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नही कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हो हठ पकड लिया, प्रार्थना की, तो भगवान्ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होने उसे अपना वह विराट् रूप दिखलाया, परन्तु मुझे तो भगवान्का छोटा-सा रूप ही पर्याप्त है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकडा तो है नही, और यदि टुकडा भी हो, तो उस अपार और विशाल मूर्तिका एक चरण या चरणकी एक अँगुली ही मुझे दीख गयी, तो भी मै कहूँगा—"धन्य है मेरा भाग्य!" अनुभवसे मैने यह सीखा है।

जमनालालजीने जब वर्धामे लक्ष्मीनारायणका मन्दिर हरिजनोके लिए खोल दिया, तो उस समय मै दर्शनके लिए गया था। पद्रह-बीस मिनटतक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी हो गयी। भगवान्का वह मुख, वह छाती, वे हाथ देखते-देखते पॉवोतक पहुँचा और अतमे चरणोपर जाकर दृष्टि स्थिर हो गयी। 'मधुर तेरी चरणसेवा'—यही भावना अन्तमे रह गयी।

यदि छोटे-से रूपमे यह महान् प्रभु न समा जाता हो, तो फिर उस महा-पुरुषके चरण ही दीख जाना पर्याप्त है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की। उसका अधिकार बडा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्यभाव था! मेरी क्या पात्रता है? मुझे तो चरण ही बस है, मेरा अधिकार इतना ही है।

५८. सर्वार्थ-सार

१८ उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है, उसमे बुद्धि चलानेकी मेरी इच्छा नही। उसमे बुद्धि चलाना पाप है। विश्व-रूप-वर्णनके उन पवित्र श्लोकोको हम पढे और पवित्र बने। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपके टुकडे किये जायँ, यह मुझे नही भाता। वह अघोर-उपासना हो जायगी। अघोरपथी लोग श्मशानमे जाकर मुर्दे चीरते है और तत्रोपासना करते है। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वरका वह दिव्य रूप—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो।
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्॥

ऐसा वह विशाल और अनन्तरूप! उसके वर्णनके श्लोकोको गाये और गाकर अपना मन निष्पाप और पवित्र बनाये।

१५ परमेश्वरके इस सारे वर्णनमे केवल एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते है—"अर्जुन, ये सब-के-सब मरनेवाले है, तू निमित्तमात्र हो जा। करने-धरनेवाला तो सब-कुछ मै हूँ।" यही ध्वनि मनमे गूँजती रहती है। जब यह विचार मनमे आता है कि हमे ईश्वरके हाथका एक हथियार बनना है, तो बुद्धि विचार करने लगती है। ईश्वरके हाथका औजार बने कैसे? कृष्णके हाथकी मुरली कैसे बनूँ? वे अपने होठमे मुझे लगा ले और मुझसे मधुर स्वर निकाले, मुझे बजाने लगे, यह कैसे होगा? मुरली बनना यानी पोला बनना! पर मुझमे तो विकार और वासनाएँ ठसाठस भरी हुई है, ऐसी दशामे मुझमेसे मधुर स्वर कैसे निकलेगा? मेरा स्वर तो दबा हुआ निकलता है। मै घन वस्तु हूँ। मुझमे अहकार भरा हुआ है। मुझे निरहकार होना चाहिए। जब मै पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊँगा, तभी परमेश्वर मुझे बजायेगा, परन्तु परमेश्वरके होठोकी मुरली बनना बडे साहसका काम है। यदि उसके पैरोकी जूतियाँ बनना चाहूँ, तो भी आसान नही है। परमेश्वरकी जूती ऐसी मुलायम होनी चाहिए कि परमेश्वरके पाँवमे जरा-सा भी घाव न लगे। परमेश्वरके चरण और काँटे-ककडके बीच मुझे पड जाना है। मुझे अपनेको कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा, मुलायम बनाना होगा। अत परमेश्वरके पाँवोकी जूती बनना भी सरल नही है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो, तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नही बनना चाहिए। तपश्चर्याकी सानपर अपनेको चढाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वरके हाथमे मेरी जीवनरूपी तलवार

चमकनी चाहिए। यह ध्वनि मेरी बुद्धिमे गूँजती रहती है। भगवान्‌के हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमे निमग्न हो जाता हूँ।

१६ अब यह कैसे किया जाय, इसकी विधि स्वय भगवान्‌ने अतिम श्लोकमे बता दी है। श्री शकराचार्यने अपने भाष्यमे इस श्लोकको 'स्वार्थ-सार'-सारी गीताका सार कहा है। वह कौन-सा श्लोक है ? वह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गवर्जित ।
निर्वैर सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव ॥

'हे पाण्डव, जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमे परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणी-मात्रमे द्वेषरहित होकर रहता, है, वह मुझे पाता है।'

जिसका ससारमे किसीसे वैर नही, जो तटस्थ रहकर ससारकी निरपेक्ष सेवा करता है, जो-जो करता है सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्तिसे सराबोर है, क्षमावान्, नि सग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है, वह परमेश्वरके हाथका हथियार बनता है, ऐसा यह सार है।

रविवार, १-५-'३२

१२ | सगुण-निर्गुण-भक्ति

५९. अध्याय ६ से ११ : एकाग्रतासे समग्रता

१ गगाका प्रवाह यो तो सभी जगह पावन और पवित्र है, परन्तु हरिद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र है। उन्होने सारे ससारको पवित्र बना दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता आदिसे अन्ततक सभी जगह पवित्र है। परन्तु बीचमे कुछ अध्याय ऐसे है, जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये है। आज जिस अध्यायके सम्बन्धमे हमे कहना है, वह बडा पावन तीर्थ बन गया है। स्वय भगवान् ही उसे 'अमृतधारा' कहते है—ये तु धर्म्यामृतमिद यथोक्त पर्युपासते। है तो यह छोटा-सा बीस श्लोकोका ही अध्याय, परन्तु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, सजीवन-सा है। इस अध्यायमे भगवान्‌ने श्रीमुखसे भक्ति-रसकी महिमाका तत्त्व गाया है।

२ वास्तवमे छठे अध्यायसे भक्ति-तत्त्व प्रारम्भ हो गया है। पाँचवें अध्यायके अन्ततक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरणरूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधनारूप विकर्म, इन दोनोकी साधनासे सम्पूर्ण कर्मोको भस्म करनेवाली अन्तिम अकर्मकी भूमिका—इतनी बातोका विचार पहले पाँच अध्यायोतक हुआ। इतनेमे जीवनशास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्यायसे एक तरहसे भक्ति-तत्त्वका ही विचार ग्यारहवें अध्यायके अन्ततक चला। एकाग्रतासे आरम्भ हुआ। छठे अध्यायमे यह बताया गया है कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन है और उसकी क्यो आवश्यकता है? ग्यारहवें अध्यायमे समग्रता बतायी गयी है। अब देखना यह है कि एकाग्रतासे लेकर समग्रतातककी लम्बी मजिल हमने कैसे तय की?

चित्तकी एकाग्रतासे शुरुआत हुई। एकाग्रता होनेपर किसी भी विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रताका उपयोग—मेरा प्रिय विषय ले तो गणितके अध्ययनमे हो सकेगा। उससे अवश्य फल-लाभ होगा, परन्तु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साध्य नही है। गणितके अध्ययनसे एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नही होती। गणितमे अथवा ऐसे ही किसी ज्ञान-प्राप्तमे चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी, परतु यह सच्ची परीक्षा नही है। इसलिए सातवे अध्यायमे यह बतलाया कि हमारी दृष्टि भगवान्‌के चरणोकी ओर होनी चाहिए। आठवे अध्यायमे कहा गया कि भगवान्‌के चरणोमे एकाग्रता सतत बनी रहे—हमारी वाणी, कान, ऑख सतत उसीमे लगी रहे, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी सभी इद्रियोको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए।

पडिलें वळण इन्द्रिया सकळा। भाव तो निराळा नाहीं दुजा॥

—"सब इन्द्रियोको आदत पड गयी—अब दूसरी भावना नही रही।" ऐसा हो जाना चाहिए। सब इन्द्रियोको भगवान्‌की धुन लग जानी चाहिए। हमारे समीप चाहे कोई विलाप कर रहा हो या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरक्त सज्जनोका, सतोका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अधकार हो, मरणकालमे परमेश्वर ही चित्तके सामने खडा रहेगा—इस तरहका अभ्यास जीवनभर सब इन्द्रियोसे करना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवे अध्यायमे दी गयी है। छठे अध्यायमे एकाग्रता, सातवेमे ईश्वराभिमुख एकाग्रता यानी 'प्रपत्ति', आठवेमे सातत्ययोग और नवेमे समर्पणता सिखायी है। दसवेमे क्रमिकता बतायी है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वरका रूप कैसे हृदय-

गम किया जाय, चीटीसे लेकर ब्रह्मदेवतकमे व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवे अध्यायमे समग्रता बतायी गयी। विश्व-रूप-दर्शनको ही मै 'समग्रता-योग' कहता हूँ। विश्व-रूप-दर्शन यानी यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमे भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवेतक भक्तिरसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छानबीन की गयी है।

६० सगुण उपासक और निर्गुण उपासक माँके दो पुत्र

३ अब बारहवे अध्यायमे भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने समाप्ति-सबधी प्रश्न पूछा। पाँचवे अध्यायमे जीवन-सबधी पूरे शास्त्रका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहाँ भी पूछा है। अर्जुन पूछता है—"भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते है और कुछ निर्गुणकी उपासना करते है। तो अब बताओ कि इन दोनोमे आपको कौन प्रिय है?"

४ भगवान् इसका क्या उत्तर दे? किसी माँके दो बच्चे हो और उससे उनके बारेमे प्रश्न किया जाय, वैसा ही यह है। दोमे एक बच्चा छोटा हो, वह माँको बहुत प्यार करता हो, माँको देखते ही आनदित होता हो और माँके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो, वह माँसे दूर जा ही नही सकता, उसे छोड नही सकता, उसका वियोग वह सहन नही कर सकता। माँ न हो, तो उसे सारा ससार सूना! ऐसा यह छोटा है। दूसरा बच्चा बडा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेमभावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। माँसे दूर रह सकता है। साल-छह मास भी माँके दर्शन न हो, तो भी वह रह सकता है। वह माँकी सेवा करनेवाला है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमे लग जानेसे माँका विछोह सह सकता है। लोगोमे उसकी प्रतिष्ठा है और चारो ओर उसका नाम सुनकर माँको बडा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। ऐसे दो बेटोके बारेमे माँसे कहिये—"माँ! इन दो बेटोमेसे एक ही बेटा आपको दिया जायगा। आप जिसे चाहे पसद करे!" तो वह क्या उत्तर देगी? किस बेटेको वह पसद करेगी? क्या वह दोनो बेटोको तराजूमे रखकर तौलने बैठेगी? माताकी भूमिकापर ध्यान दीजिये। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा? वह निरुपाय होकर कहेगी—"यदि बिछोह ही होना है, तो बडे बेटेका वियोग मै सह लूँगी।" छोटे बेटेको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नही कर सकती। छोटे बेटेके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह ऐसा कोई जवाब दे—"बडा बेटा दूर जाय, तो हर्ज नही।" परतु उसे

अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह उत्तर नही कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ उत्तर देना है, इसलिए दो-चार शब्द वह बोल देगी, परन्तु उन शब्दोको तोड-मरोड करके अर्थ निकालने लगेंगे, तो वह ठीक न होगा।

५ इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस माँकी विचित्र दशा होगी, ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्‌के मनकी हो गयी है। अर्जुन कहता है–"भगवन्, दो तरहके भक्त आपके हैं। एक आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आँखे आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पाँव आपकी सेवापूजाके लिए उत्कठित है। दूसरा है स्वावलबी, इद्रियोको सतत वशमे रखनेवाला, सर्वभूतहितमे रत, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामे ऐसा मग्न कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइये कि इन दोनोमे आपका प्रिय भक्त कौन-सा है?" अर्जुनका भगवान्‌से यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस माँने जवाब दिया, ठीक उसी तरह भगवान्‌ने इसका उत्तर दिया है–"वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा–अद्वैती भक्त भी मेरा ही है।" इस तरह भगवान् असमजसमे पड गये हैं। कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला।

६ और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरश दोनो भक्त एकरूप हैं। दोनोकी योग्यता एक-सी है। उसकी तुलना करना मर्यादा अतिक्रमण करना है। पाँचवे अध्यायमे कर्मके विषयमे जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहाँ भक्तिके सबधमे पूछा है। पाँचवे अध्यायमे कर्म और विकर्मकी सहायतासे मनुष्य अकर्म-दशाको प्राप्त होता है। वह अकर्मावस्था दो रूपोमे प्रकट होती है–एक व्यक्ति रात-दिन कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म नही करता, और दूसरा चौबीस घटेमे एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनियाभरके व्यवहार करता है। इन दोनो रूपोमे अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय? किसी वर्तुलकी एक बाजूसे दूसरी बाजूकी तुलना कीजिये। एक ही वर्तुलकी दो बाजू! इनकी तुलना करे कैसे? दोनो बाजू समान योग्यता रखते है, एकरूप है। अकर्म-भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान्‌ने एकको 'सन्यास' और दूसरेको 'योग' कहा है। शब्द भले ही दो हो, पर अर्थ एक ही है। सन्यास और योग, दोनोमे निर्णय अन्तमे सरलता, सुगमताके आधारपर ही किया गया है।

७ सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है। एक सगुण भक्त इन्द्रियोके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है। दूसरा निर्गुण भक्त मनसे विश्वकल्याणकी चिंता करता है। पहला बाह्य सेवामे मग्न दिखाई देता है, परन्तु भीतरसे उसका

चितन सतत जारी है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नही दिखाई देता, परन्तु भीतरसे उसकी महासेवा चल ही रही है। इस प्रकारके दो भक्तो-मे श्रेष्ठ कौन है ? रात-दिन कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला एक भक्त है। तो दूसरा निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चितन, सबकी चिता करता है। ये दोनो भक्त भीतरसे एकरूप ही है। शायद बाहरसे भिन्न दिखाई देते हो, परन्तु दोनो है एक-से ही, दोनो भगवान्‌के प्यारे है। फिर भी इनमे सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। इस तरह भगवान्‌ने जो उत्तर पॉचवे अध्यायमे दिया, वही यहॉ भी दिया है।

६१. सगुण सुलभ और सुरक्षित

८ सगुण-भक्ति-योगमे प्रत्यक्ष इद्रियोसे काम लिया जा सकता है। इद्रियाँ साधन है, विघ्नरूप है, या दोनो है। वे मारक है या तारक–यह देखनेवालेकी दृष्टिपर अवलबित है। मान लो कि किसीकी मॉ मृत्यु-शय्यापर पडी हुई है और वह उससे मिलना चाहता है। दोनोके बीच पद्रह मीलका रास्ता है। उसपर मोटर नही जा सकती। टूटी-फूटी पगडडी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न ? कोई कहेगा–"कहॉका यह मनहूस रास्ता बीचमे आ गया, नही तो मै कबका मॉसे जाकर मिल लेता !" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है। वह रास्तेको कोस रहा है। परतु मॉको देखनेके लिए उसे हर हालतमे जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समझकर वह वही नीचे बैठ जायगा, तो दुश्मन जान पडने-वाले उस रास्तेकी विजय हो जायगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहेगा–"यह जगल है, फिर भी इसमेसे होकर जानेका रास्ता तो बना हुआ है, यही गनीमत है। किसी तरह मॉतक जा पहुँचूंगा। यह न होता, तो इस दुर्गम पहाडपरसे कैसे आगे जा पाता ?" यह कहकर वह उस पगडडीको एक साधन समझता हुआ तेजीसे आगे कदम बढाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमे स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अतर बढानेवाला कहिये या अतर कम करनेवाला, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यके चित्तकी भूमिकापर, उसकी दृष्टिपर अवलबित है। यही बात इन्द्रियोकी है। वे विघ्नरूप है या साधक, यह आपकी अपनी दृष्टिपर निर्भर करता है।

९ सगुण उपासकके लिए इद्रियॉ साधन है। इद्रियॉ मानो पुष्प है, जिन्हे परमात्माको अर्पित करना है। ऑखोसे हरिका रूप देखे, कानोसे हरि-कथा

सुने, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पाँवोसे तीर्थयात्रा करे और हाथोसे सेवा-कार्य करे—इस तरह समस्त इद्रियोको वह परमेश्वरको अर्पण कर देता है। इद्रियाँ भोगके लिए नही रह जाती। पुष्प तो भगवान्पर चढानेके लिए होते है। फूलोकी माला स्वय अपने गलेमे डालनेके लिए नही होती। इसी तरह इद्रियोका उपयोग ईश्वरकी सेवाके लिए करना है। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि, परन्तु निर्गुणोपासकको इन्द्रियाँ विघ्नरूप मालूम होती है। वह उन्हे सयममे रखता है, वद करके रखता है। उनका खाना वद कर देता है। उनपर पहरा वैठा देता है। सगुणोपासकको यह सव-कुछ नही करना पडता। वह सव इद्रियोको हरि-चरणोमे चढा देता है। ये दोनो विधियाँ इद्रिय-निग्रहकी ही है-इन्द्रिय-दमनके ही ये दोनो प्रकार है। आप किसी भी विधिको लेकर चलिये, परतु इन्द्रियोको अपने कावूमे रखिये। ध्येय दोनोका एक ही है-उन्हे विषयोमे न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी कठिन है।

१० निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली वात नही है। 'सारे विश्वका कल्याण करना' कहनेमे सरल है, पर करना वहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिता है, वह चितनके सिवा दूसरा कुछ नही कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन है। सगुण-उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोटे-से देहातकी, जहाँ हमारा जन्म हुआ, सेवा करना अथवा माँ-वापकी सेवा करना सगुण-पूजा है। इसमे केवल इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत्के हितकी विरोधी न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यो न हो, वह यदि दूसरोके हितमे वाधा न डालती हो, तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमे पहुँच जायगी, नही तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। माँ-वाप हो, मित्र हो, दु खी वधु-वाधव हो, साधु-सत हो, इन्हे परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन सवमे परमेश्वरकी मूर्तिकी कल्पना करके सतोप मानो। यह सगुण-पूजा सुलभ है, परतु निर्गुण-पूजा कठिन है। यो दोनोका अर्थ एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, वस।

११ सुलभताके अलावा एक और भी मुद्दा है। निर्गुण-उपासनामे भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमे आर्द्रता है। उसमे भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमे कुछ खतरा है। एक समय ऐसा था, जव ज्ञानपर मै अधिक निर्भर था, परन्तु अव मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नही चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है, परतु सूक्ष्म मैलको मिटानेकी सामर्थ्य उसमे नही है। स्वावलम्बन,

विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य-इन सभी साधनोको ले लीजिये, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नही मिट सकते। भक्तिरूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नही धुल सकते। भक्तिरूपी पानीमे ही यह शक्ति है। इसे आप चाहे तो परावलम्बन कह दीजिये। परन्तु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके वह 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिये और उसका अवलम्बन-ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिये। परमात्माका आधार लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नही होते।

१२ कोई यह कहेगे कि "यहाँ 'ज्ञान' शब्दका अर्थ सकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नही धुल सकते, तो ज्ञानका दर्जा हलका हो जाता है।" मै इस आक्षेपको स्वीकार करता हूँ, परन्तु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमे रहते हुए होना कठिन है। इस देहमे रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यो न हो, उसमे कुछ कमी रह ही जायगी। इस देहमे जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो जाय, तो उससे सारे मैल भस्म हो जायँगे, इसमे मुझे तिल-मात्र शका नही है। चित्तसहित सारे मैलोको भस्म कर डालनेकी सामर्थ्य ज्ञानमे है, परन्तु इस विकारवान् देहमे ज्ञानका बल कम पडता है, इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मैलोका मिटना सम्भव नही है। अत भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मैल मिटते नही। इसीलिए भक्तिमे मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी ओरसे समझिये। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमे परमेश्वराव-लबन है, निर्गुणमे स्वावलबन। इसमे 'स्व' का भी क्या अर्थ है? "अपने अत स्थ परमात्माका आधार"-यही उस स्वावलबनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नही मिल सकता, जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वाव-लबनसे अर्थात् आन्तरिक आत्मज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। साराश, निर्गुण भक्तिके स्वावलबनमे भी आत्माका ही आधार है।

६२. निर्गुणके अभावमें सगुण भी सदोष

१३ जैसे सगुण-उपासनाके पक्षमे मैने सुलभता और सुरक्षिततारूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमे भी मै डाल सकता हूँ। निर्गुणमे एक मर्यादा रहती है। उदाहरणार्थ, हम भिन्न-भिन्न कामोके लिए, सेवाके लिए सस्था स्थापित करते है। सस्थाएँ शुरूमे व्यक्तिको लेकर बनती है। वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। सस्था पहले व्यक्तिनिष्ठ रहती है। परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता जाय, वैसे-वैसे वह व्यक्तिनिष्ठ न रहकर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमे ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई, तो स्फूर्तिदाताका लोप

होते ही सस्थामे अँधेरा छा जाता है। मै अपना प्रिय उदाहरण दूँ। चरखेकी माल टूटते ही सूतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत लपेटना भी सभव नही होता। व्यक्तिका आधार टूटते ही वैसी ही दशा उस सस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्त्व-निष्ठा पैदा हो जाय, तो फिर ऐसा नही होगा।

१४ सगुणको निर्गुणकी सहायता चाहिए। कभी तो व्यक्तिसे—आकारसे—निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गगा हिमालयसे, शकरके जटाजूटसे निकली, परन्तु वही थम नही गयी। जटाजूट छोडकर वह हिमालयकी गिरि-कदराओ, घाटिया, जगलोको पार करती हुई सपाट मैदानमे कल-कल, छल-छल बहती हुई जब आयी, तभी वह विश्वजनोके काम आ सकी। इसी प्रकार व्यक्तिका आधार टूट जानेपर भी तत्त्वके मजबूत खभोपर खडी रहनेके लिए सस्थाको तैयार रहना चाहिए। मकानमे जब मेहराब बनाते है, तो पहले उसे आधार देते है, परन्तु बादमे आधार निकालना होता है। आधारके निकाल डालनेपर जब मेहराब टिकी रहती है, तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। यह तो ठीक है कि पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुणसे चला, परन्तु अतमे उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामे, निर्गुणमे होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका जन्म होना चाहिए। भक्तिरूपी लतामे ज्ञानके पुष्प खिलने चाहिए।

१५ बुद्धदेवके ध्यानमे यह बात आ गयी थी। इसीलिए उन्होने तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतायी है। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो। उसमेसे तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो, तो कम-से-कम सघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-पन्द्रहके लिए होना चाहिए। सघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमे अनबन होगी, झगडे होगे। व्यक्ति-शरणता मिटकर सघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धात-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बौद्ध-धर्ममे तीन प्रकारकी शरणागति बतायी गयी है—

बुद्ध शरण गच्छामि। सघ शरण गच्छामि। धर्म शरण गच्छामि।

पहले व्यक्तिके प्रति प्रीति हो, फिर सघके प्रति, परन्तु ये दोनो निष्ठाएँ अस्थिर है। अन्तमे सिद्धात-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए, तभी सस्था लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ, तो भी वह निर्गुण-सागरमे जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमे सगुण सदोष हो जाता है।

निर्गुणकी मर्यादा सगुणको समतोल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

१६ हिन्दू, ईसाई, इसलाम आदि सभी धर्मोमे किसी-न-किसी रूपमे मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह नीचे दर्जेकी मानी गयी हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परन्तु जबतक मूर्ति-पूजा निर्गुणकी सीमामे रहती है, तभी-तक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोप हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादाके अभावमे सारे धर्मोके सगुण रूप अवनतिको प्राप्त हो गये है। पहले यज्ञयागमे पशुहत्या होती थी। आज भी शक्ति-देवीको बलि चढाते है। यह मूर्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोडकर मूर्ति-पूजा गलत दिशामे चली गयी। यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहती, तो फिर यह अदेशा न रहता।

६३. दोनो परस्पर पूरक : राम-चरित्रके दृष्टान्त

१७ सगुण सुलभ और सुरक्षित है। परन्तु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणके विकासके लिए उसमे निर्गुणरूपी, तत्त्वनिष्ठारूपी बौर आना चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर-पूरक हैं, परस्पर-विरुद्ध नही। सगुणसे निर्गुणतक मजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मैल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनो एक-दूसरेसे सुशोभित है।

१८ यह दोनो प्रकारकी भक्ति रामायणमे बडे उत्तम ढगसे दिखायी गयी है। अयोध्याकाडमे भक्तिके दोनो प्रकार आ गये है। इन्ही दो भक्तियोका विस्तार रामायणमे है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी है और लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण-भक्ति और सगुण-भक्तिका स्वरूप समझमे आ जायगा।

१९ राम जब वनवासके लिए निकले, तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नही थे। रामको उन्हे साथ ले जानेकी कोई जरूरत नही मालूम होती थी। उन्होने लक्ष्मणसे कहा—"लक्ष्मण, मै वनमे जा रहा हूँ। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घरपर रहो। मेरे साथ चलकर दु खी माता-पिताको और अधिक दु खी न बनाओ। माता-पिताकी और प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे, तो मै निश्चिन्त रहूँगा। तुम मेरे प्रति-निधिके तौरपर रहो। मै वनमे जा रहा हूँ, इसका अर्थ यह नही कि किसी सकटमे पड रहा हूँ। बल्कि ऋषियोके आश्रममे जा रहा हूँ।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे, परन्तु लक्ष्मणने रामकी सारी बाते एक ही झपाटेमे

उडा दी। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढिया चित्र खीचा है। लक्ष्मण कहते हैं—"आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बतायी है। वास्तवमे मुझे इसका पालन भी करना चाहिए, परन्तु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नही उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमे नही। मै तो बालक हूँ—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरवर धीर धरम-धुर-धारी।
निगम-नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु-सनेहँ-प्रतिपाला।
मंदर-मेरु कि लेहिं मराला॥

"हस क्या मेरु मदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मै तो आजतक आपके प्रेमसे पला-पुसा हूँ। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मै तो एक बालक हूँ।" यह कहकर लक्ष्मणने सारी बात खत्म कर दी।

२० मछली जिस तरह पानीसे जुदा नही रह सकती, वही हाल लक्ष्मण-का था। रामसे दूर रहनेकी शक्ति उसमे नही थी। उसके रोम-रोममे सहानु-भूति भरी थी। राम सो जायँ, तब भी स्वय जागता रहे, उनकी सेवा करे, इसीमे उसे आनन्द मालूम होता था। हमारी आँखपर कोई ककड मारे, तो जैसे हाथ फौरन् उठकर आँखपर आ जाता है और ककडको मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। रामपर यदि प्रहार हो, तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मणके लिए एक बढिया दृष्टान्त दिया है। झडा ऊँचा लहराता रहता है। मान-वदना सब झडेकी ही करते हैं। उसके रग, आकार आदिके गीत गाये जाते है। परन्तु उस सीधे खडे डडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका फहर रही है, उसका दडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना खडा रहता। झडेका डडा कभी झुक नही सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मणरूपी डडा कभी झुका नही। यश किसका? तो रामका। ससारको पताका दीखती है, डडेकी याद नही रहती। मदिरका कलश दीखता है, नीव नही। रामका यश ससारमे फैल रहा है, परन्तु लक्ष्मणका कही पता नही। चौदह सालतक यह दड सीधा ही तना रहा, जरा भी नही झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बडे-बडे दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको वनमे छोडनेका काम अतमे लक्ष्मणको ही सौपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीता-को पहुँचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही रह गया था।

वह रामकी आँखें, रामके हाथ-पाँव, रामका मन बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमे मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममे मिल गयी थी। वह रामकी छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

२१ भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदासने सुन्दर खीचा है। राम वनको गये, तब भरत अयोध्यामे नही था। जब भरत आया, तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वसिष्ठ उसे समझा रहे थे कि "तुम राज चलाओ।" पर भरतने कहा-"मुझे रामसे भेट करनी चाहिए।" रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था, परन्तु साथ ही राज्यका प्रबध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, इसका प्रबन्ध करना यह रामका ही काम करने जैसा है। सारी सम्पत्ति उस मालिककी है, उसकी व्यवस्था करना उसे अपना कर्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नही हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है, रामका काम करना, नहीं तो वह भक्ति किस कामकी ? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेट करने वनमे आया है। "भैया, यह आपका राज्य है। आप · " इतना ज्योही वह कहता है, त्योही राम उससे कहते हैं-"भरत, तुम्ही राज-काज चलाओ।" भरत सकोचसे खडा रहता है। वह कहता है-"आपकी आज्ञा सिर-आँखोपर।" राम जो कहे, सो मजूर। उसने अपना सब-कुछ रामपर निछावर कर रखा था।

२२ भरत गया और राज-काज चलाने लगा, परतु देखो कैसा अजीब दृश्य है कि अयोध्यासे दो मीलकी दूरीपर वह तपस्या करता रहा। तपस्वी रहकर उसने राज-काज चलाया। अन्तमे राम जब भरतसे मिले, तब यह पहचानना मुश्किल हो गया कि वनमे रहकर तप करनेवाला असली तपस्वी दोनोमेसे कौन है ? दोनोके एक-से चेहरे, उम्रमे थोडा-सा फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्याके चिह्न, दोनोको देखकर पहचाना नही जाता कि इनमे राम कौन और भरत कौन है, इस तरहका चित्र यदि कोई चितेरा निकाले, तो वह कितना पावन चित्र होगा। इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षणभरके लिए भी दूर नही था। एक ओर वह राजकाज चला रहा था, तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमे सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अत वहाँ वियोगकी भाषा मुँहसे निकले ही कैसे ? इसलिए भरतको रामका वियोग नही लगता था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

२३ आजकलके युवक कहते हैं-"रामका नाम, रामकी भक्ति, रामकी उपासना-ये सब बाते हमारी समझमे नही आती। हम तो भगवान्का काम

करेगे।" भगवान्‌का काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्‌का काम करके भरतने वियोगको आत्मसात् किया है। भगवान्‌का काम करते हुए भगवान्‌के वियोगका अनुभव करनेके लिए समय न रहना एक वात है और जिसका भगवान्‌से कुछ देना-लेना नही, उसका वोलना दूसरी वात है। भगवान्‌का कार्य करते हुए सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना वडी दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहाँ सगुणका आधार टूट नही गया था। "प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेगे, उसमे मुझे सन्देह न होगा"—ऐसा कहकर भरत लौटने लगा तो उसने फिर पीछे मुडकर रामकी ओर देखा और कहा—"भगवन्, मनको समाधान नही होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ-सा लगता है।" रामने तुरन्त उसका भाव पहचान लिया और कहा—"ये पादुकाएँ ले जाओ।" अन्तमे सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अतमे आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुकाएँ लेकर समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछसे मिटाने जैसा होता। भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह वाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्तव्यका पालन करनेमे ही राम-भक्ति मानता था, तो भी उसे पादुकाओकी आवश्यकता महसूस हुई। उनके अभावमे वह राजकाजका भार नही उठा सकता था। उन पादुकाओकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह अपना कर्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण रामका भक्त था, वैसा ही भरत भी था। दोनो-की भूमिकाएँ वाहरसे भिन्न-भिन्न थी। भरत यद्यपि कर्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

६४. दोनो परस्पर पूरक : कृष्ण-चरित्रके दृष्टान्त

२४ हरिभक्तिरूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्‌ने अर्जुनसे वार-वार कहा है–**मय्यासक्तमना पार्थ**–"अर्जुन, मुझमे आसक्त रह, मेरे रसका सहारा ले और फिर कर्म करता रह।" जिस भगवद्गीताको 'आसक्ति' शव्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने वार-वार इस वातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, राग-द्वेष छोडकर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो, 'अनासक्ति', 'नि सगता' जिसका ध्रुपद या पालु-पद है, वही कहती है-"अर्जुन, मुझमे आसक्ति रख।" पर यहाँ याद रखना चाहिए कि भगवान्‌मे आसक्ति रखना वडी ऊँची वात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति थोडे ही है। सगुण और निर्गुण, दोनो एक-दूसरेमे गुँथे हुए हैं। सगुण निर्गुणका आधार सर्वथा तोड नही सकता और निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो

मनुष्य सदैव कर्तव्य-कर्म करता है, वह उस कर्मद्वारा पूजा ही कर रहा है, परन्तु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। **मामनुस्मर युद्धय च।** मेरा स्मरण रखते हुए कर्म करो। कर्म स्वय भी एक पूजा ही है, परन्तु अन्तरमे भावना सजीव रहनी चाहिए। केवल फूल चढा देना ही पूजा नही है। उसमे भावना आवश्यक है। फूल चढाना पूजाका एक प्रकार है, सत्कर्मोद्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है, परन्तु दोनोमे भावनारूपी आर्द्रता आवश्यक है। फूल चढा दिये, पर मनमे भावना नही है, तो वे फूल मानो पत्थरपर ही चढे। अत असली वस्तु भावना है। सगुण और निर्गुण, कर्म और प्रीति, ज्ञान और भक्ति—ये सब चीजे एकरूप ही है। दोनोका अतिम अनुभव एक ही है।

२५ उद्धव और अर्जुनकी मिसाल देखो। रामायणसे मै एकदम महाभारत-मे आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है, क्योकि राम और कृष्ण, दोनो एक-रूप ही है। जैसे भरत और लक्ष्मण, वैसे ही उद्धव और अर्जुन है। जहाँ कृष्ण, वहाँ उद्धव होगे ही। उद्धवको कृष्णका क्षणभरका वियोग सहन नही हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामे निमग्न रहता है। कृष्णके बिना सारा ससार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्णका सखा था, परन्तु वह दूर, दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था, परन्तु कृष्ण द्वारकामे, तो अर्जुन हस्तिनापुरमे। ऐसा दोनोका सबध था।

२६ जब कृष्णको देह छोडनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तो उन्होने उद्धव-से कहा—"ऊधो, अब मै जा रहा हूँ।" उद्धवने कहा—"मुझे क्या अपने साथ नही ले चलेगे ? चलो, हम दोनो साथ ही चलेगे।" परन्तु कृष्णने कहा—"यह मुझे पसद नही। सूर्य अपना तेज अग्निमे रख जाता है, उसी तरह मै अपनी ज्योति तुझमे छोड जाता हूँ।" इस तरह भगवान्‌ने अतकालीन व्यवस्था की और उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामे उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये, किन्तु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ, मानो कुछ हुआ ही नही।

मरका गुरु, रडका चेला, दोहींचा बोध वाया गेला।

—"मरियल गुरु, रोवना चेला—दोनोका बोध व्यर्थ गया।" ऐसा हाल उसका नही था। उसे लगा, मानो वियोग हुआ ही नही। उसने जीवनभर सगुण-उपासना की थी। वह परमेश्वरके सान्निध्यमे ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमे ही आनद आने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मजिल तय करनी पडी। सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुणकी सीढी आनी ही चाहिए, नही तो परिपूर्णता न होगी।

२७ इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था ? अपने बाद सब स्त्रियोकी रक्षाका भार अर्जुनपर सौपा था। अर्जुन दिल्लीसे आया और द्वारकासे श्रीकृष्णके घरकी स्त्रियोको लेकर चला। रास्तेमे हिसारके पास पजाबके चोरोने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय एकमात्र नर, उत्कृष्ट वीरके नामसे प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था और इसलिए 'जय' नामसे प्रसिद्ध हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शकरका सामना किया और उन्हे झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका उसके मनपर बडा असर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया और केवल निस्त्राण और निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। साराश यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अन्तमे यह वियोग दु सह और भारी हो गया। उसके निर्गुणको अन्तमे वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो समाप्त हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। साराश, सगुणको निर्गुणमे जाना पडता है और निर्गुणको सगुणमे आना पडता है। इस तरह दोनोको एक-दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

६५. सगुण-निर्गुणकी एकरूपताके विषयमें स्वानुभव-कथन

२८ इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक और निर्गुण-उपासकमे क्या भेद है, तो वाणीकी गति कुठित हो जाती है। सगुण और निर्गुण अतमे एक हो जाते है। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे फूटा हो, तो भी अतमे वह निर्गुणतक जा पहुँचता है।

पुरानी बात है। मै वायकोमका सत्याग्रह देखने गया था। मलबारके किनारे शकराचार्यका जन्मग्राम है, यह बात मुझे याद थी। जहाँ होकर मै जा रहा था, वही कही पासमे भगवान् शकराचार्यका 'कालडी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा और मैने साथके मलयाली सज्जनसे पूछा। उसने कहा—"यहाँसे दस-बारह मीलपर ही वह गॉव है। आप जाना चाहते है क्या ?" मैने इनकार कर दिया। मै जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अत मुझे और कही जाना उचित न जान पडा और उस समय उस गॉवको देखनेके लिए नही गया। मुझे आज भी ऐसा लगता है कि यह करके मैने अच्छा ही किया। परन्तु रातको जब मै सोने लगता, तो वह कालडी गाँव, और शकराचार्यकी वह मूर्ति मेरी ऑखोके सामने बार-बार आ खडी होती। मेरी नीद उड जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ताजा लग रहा है। शकराचार्यका वह ज्ञानप्रभाव, उनकी वह दिव्य अद्वैतनिष्ठा, सामने फैले हुए ससारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौ-

किक और ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गभीर भाषा और मुझपर हुए उनके अनत उपकार—इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगती। रातको ये सारे भाव जागृत होते। तब मुझे इस बातका अनुभव हुआ कि निर्गुणमे सगुण कैसे भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेट होनेमे भी उतना प्रेम नही होता। निर्गुणमे भी सगुणका परमोत्कर्ष ठसाठस भरा हुआ है।

मै अकसर किसीको कुशलपत्र नही लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखनेपर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमे उसकी स्मृति भरी रहती है। निर्गुणमे इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण और निर्गुण, दोनो एकरूप ही है। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, या प्रकट रूपसे सेवा करना और भीतरसे सतत ससारके कल्याणका चितन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया दिखाई न देना—इन दोनोका समान मूल्य और महत्त्व है।

६६. सगुण-निर्गुण केवल दृष्टि-भेद, अतः भक्त-लक्षण प्राप्त करें

२९ अतमे मुझे यह कहना है कि सगुण क्या और निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नही है। एक दृष्टिसे जो सगुण है, वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण सिद्ध हो सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमे भगवान्‌की कल्पना कर लेते है। हमारी मातामे और सन्तोमे भी प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकट हुआ है। उनमे ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमे परमात्मा मानकर हम पूजा नही करते। ये चैतन्यमय लोग प्रत्यक्ष दिखाई देते है। अत इनकी सेवा करनी चाहिए, इनमे सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए, परन्तु ऐसा न करके लोग पत्थरमे परमेश्वर देखते है। एक तरहसे पत्थरमे परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। संत, माँ-बाप, पडोसी—इनमे प्रेम, ज्ञान, उपकार-बुद्धि व्यक्त हुई है। इनमे ईश्वर मानना तो सरल है, परन्तु पत्थरमे ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके ककडको हम शकर मानते है। यह क्या निर्गुण-पूजा नही है?

३० बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमे परमेश्वरकी कल्पना न की जाय, तो फिर कहाँ की जाय? भगवान्‌की मूर्ति होनेकी पात्रता तो उस पत्थरमे ही है। वह निर्विकार है, शात है। अधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसाका-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकार पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। माँ-बाप, जनता, अडोसी-पडोसी, ये सब विकारसे भरे है, अर्थात् इनमे कुछ-न-कुछ विकार मिल

ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी अपेक्षा उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

३१ साराश यह कि सगुण-निर्गुण परस्पर पूरक है। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है, परन्तु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है और निर्गुण भी सरल है। दोनोंके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पाँचवे अध्यायमे जैसा बताया है, चौबीसो घटे कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला और चौबीसो घटे कुछ भी कर्म न करके सब कर्म करनेवाला, योगी और सन्यासी, दोनो एकरूप ही हैं, वैसे ही यहाँ भी है। सगुण कर्म-दशा और निर्गुण सन्यास-योग, दोनो एकरूप ही हैं। सन्यास श्रेष्ठ है या योग? इसका उत्तर देनेमे भगवान्‌को जैसी कठिनाई पडी, वैसी ही कठिनाई यहाँ भी आ पडी। अन्तमे सुलभता-कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पडा है, अन्यथा योग और सन्यास, सगुण और निर्गुण, दोनो एकरूप ही है।

३२ अतमे भगवान् कहते है—"अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोलमटोल पत्थर न रहो।" यह कहकर भगवान्‌ने अन्तमे भक्तके लक्षण बताये है। अमृत मधुर होगा, परन्तु उसकी माधुरी चखनेका अवसर हमे नही मिला। किन्तु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर है। इसमे कल्पनाकी जरूरत नही है। इन लक्षणोका हम अनुभव करे। बारहवे अध्याय-के ये भक्त-लक्षण स्थितप्रज्ञके लक्षणोकी तरह हमे नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए और इन्हे थोडा-थोडा अपने जीवनमे उतारकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमे अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, ८-५-'३२

आत्मानात्म-विवेक | १३

६७. कर्मयोगके लिए उपकारक देहात्म-पृथक्करण

१ व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्‌गीतामे उँडेल दिया है। उन्होने विस्तारपूर्वक दूसरा भी बहुत कुछ लिखा है। अकेली महाभारत सहितामे ही लाख-सवा लाख श्लोक हैं। सस्कृतमे 'व्यास' शब्दका अर्थ ही मूलत 'विस्तार'

है, परन्तु भगवद्गीतामे उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नही है। भूमितिमे जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धान्त वता दिये है, तत्त्व दिखला दिये है, उसी प्रकार व्यासदेवने जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामे लिख दिये है। भगवद्गीतामे न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार हो। इसका मुख्य कारण यह है कि जो वाते गीतामे कही गयी है, उन्हे प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमे परख सकता है, वल्कि वे इसलिए कही गयी है कि लोग उन्हे परखे। जितनी वाते जीवनके लिए उपयोगी है, उतनी ही गीतामे कही गयी है। उनके कहने-का उद्देश्य भी इतना हो था, इसीलिए व्यासने थोडेमे तत्त्व बताकर सन्तोष मान लिया है। उनकी इस सन्तोष-वृत्तिमे उनका सत्य तथा आत्मानुभवसवधी महान् विश्वास हमे दिखाई देता है। जो वात सत्य है, उसके समर्थनके लिए अधिक शक्ति काममे लानेकी जरूरत नही रहती।

२ हम जो गीताकी बात कर रहे है, उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमे जव कभी हमे किसी सहायताकी आवश्यकता प्रतीत हो, तव वह गीतासे हमे मिलती रहे। और वह हमे सदैव मिलने जैसी भी है। गीता जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमे स्वधर्मपर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनकी बडी नीव अगर कोई है, तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणरूपी पायेपर खडी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा, इमारत उतनी ही ज्यादा टिक सकेगी। इस स्वधर्मा-चरणरूप कर्मके इर्द-गिर्द गीतामे विविध बाते खडी कर दी गयी है। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गये है। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुन्दर बनानेके लिए, और सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोकी और सहायताकी जरूरत है, वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अवतक ऐसी वहुतेरी चीजे हमने देखी। उनमे बहुत-सी भक्तिके रूपमे थी। आज तेरहवें अध्यायमे जो चीज हमे देखनी है, वह भी स्वधर्माचरणमे बहुत उपयोगी है। इसका सबध विचार-पक्षसे है।

३ स्वधर्माचरण करनेवालेको फलका त्याग करना चाहिए, यह प्रधान वात गीतामे सर्वत्र कही गयी है। कर्म तो करे, पर उसका फल छोड दे। पेडको पानी पिलाये, उसकी परवरिश करे, परन्तु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा न रखे। यह स्वधर्माचरणरूप कर्मयोग है। कर्म-योगका अर्थ केवल इतना हो नही कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमे सर्वत्र हो ही रहा है। उसे वतानेकी जरूरत नही है, परन्तु स्वधर्माचरणरूप कर्म—कोरा कर्म नही—भलीभाँति करके उसका फल छोड देना,—यह वात

कहनेमे, समझनेमे बडी सरल मालूम होती है, परन्तु आचरणमे कठिन है। किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही मूलत फल-वासना मानी गयी है। फल-वासनाको छोडकर कर्म करना उलटा पथ है। व्यवहार या ससारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो व्यक्ति बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमे गीताका कर्म-योग है, ऐसा हम बहुत बार कहते है। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्म-योगमय है, ऐसा हम कहते हैं, परन्तु इस प्रयोगमे भाषा-शैथिल्य है। गीता-की व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोग नही है, लाखो कर्म करनेवालोमे केवल–कर्म ही नही, वल्कि स्वधर्माचरणरूप कर्म करनेवाले लाखो लोगोमे भी–गीताके कर्मयोगका आचरण करनेवाला विरला ही मिलेगा। कर्मयोगको सूक्ष्म और सच्चे अर्थमे देखा जाय, तो ऐसा सम्पूर्ण कर्मयोगी शायद ही कही मिले। कर्म तो करे, परन्तु उसके फलको छोड दे, यह बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामे यही विश्लेपण, यही पृथक्करण किया गया है।

४ उस विश्लेपण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्-करण इस तेरहवे अध्यायमे बताया गया है। 'कर्म करे और उसके फलकी आसक्ति छोड दे' इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है, 'देह और आत्मा' का। यही तेरहवे अध्यायमे उपस्थित किया गया है। आँखोसे हम जिस रूपको देखते है, उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आँखोको हो जाय, तो भी वस्तुके अन्तरगमे हमे प्रवेश करना पडता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका—निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पडता है। नारियल हो तब भी उसे फोडकर भीतर क्या है, यह देखना पडता है। कटहलपर काँटे लगे रहते है, लेकिन भीतर बढिया और रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखे, चाहे दूसरोकी ओर, यह भीतर और बाहरका पृथक्करण आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुके भीतरी और बाहरी रूपका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह और भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममे भी यह बात है। बाहरी फल कर्मका शरीर है और कर्मकी बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है, वह उस कर्मकी आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फलरूप शरीर छोडकर भीतरी चित्तशुद्धि-रूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करे, हृदयमे धारण कर ले। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्राही दृष्टि, हमे प्राप्त कर लेनी चाहिए। आँखोको, मनको, विचारोको ऐसी शिक्षा,

ऐसी आदत, ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए। हर वातमे देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवे अध्याय-मे दिया गया है।

६८. सुधारका मूलाधार

५ सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार वहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि वचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल ले, तो कितना अच्छा हो! यह विपय हजम कर लेने जैसा है। यह दृष्टि स्वीकार करने योग्य है। वहुतोको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई सवध नही! कुछ लोगोका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई सवध भी हो, तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा वचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके, तो वडे आनन्दकी वात होगी। यह शिक्षणका विपय है। आजकल कुशिक्षणके फल-स्वरूप वडे वुरे सस्कार वच्चोके मनपर पड रहे है। 'मै केवल देहरूप हूँ' इस कल्पनामेसे यह शिक्षण हमे वाहर लाता नही। सव देहके ही चोचले चल रहे है, किन्तु इसके वावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, या देना चाहिए, वह तो कही दिखाई ही नही देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नही है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति वन गयी है। इस तरह देहकी पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

ठेठ वचपनसे ही हमे इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कही पॉवमे ठोकर लग गयी, तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। वच्चेका इतनेभरसे काम निपट जाता है या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत महसूस नही होती। थोडी-वहुत चोट-खुरचकी तो वह चिन्ता भी नही करेगा, परन्तु उस वच्चेका जो सरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नही चलता। वह वच्चेको पास वुलाकर कहेगा—"हाय राम, चोट लग गयी! कैसे लगी, कहॉ लगी? अरेरे, खून निकल आया है।" ऐसा कहकर, वह वच्चा न रोता हो तो उलटा उसे रुला देता है। न रोनेवाले वच्चेको रुलाने-की इस वृत्तिको क्या कहा जाय? कहते है,—"कूदफॉद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पडोगे, चोट लग जायगी", इस तरह देहपर ही ध्यान देने-वाला एकागी शिक्षण दिया जाता है।

६ वच्चेकी प्रगसा भी करते हैं, तो देहपक्षको लेकर, और उसकी निंदा भी देहपक्षको लेकर ही करते हैं। कहते हैं—"कैसा गदा है रे!" इससे वच्चेको कितनी चोट लगती है! कैसा मिथ्या आरोप है यह! गदगी है, यह सही है।

उसे साफ करना चाहिए, यह भी सही है। लेकिन इस गदगीको सरलतासे साफ न करके उस बच्चेपर इस तरह आघात किया जाता है। बच्चा उसे सहन नही कर पाता। वह बडा दु खी हो जाता है। उसके अन्तरगमे, उसकी आत्मामे स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गदे होनेका यह कैसा व्यर्थ आरोप। वास्तवमे वह लडका गदा नही है। जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, पवित्र, प्रिय परमात्मा है, वही वह है। उसीका अश उसमे विद्यमान है। परन्तु उसे कहते है 'गदा'। उस गदगीसे उसका क्या सम्बन्ध है, यह बात बच्चेकी समझमे नही आती, इसीलिए वह इस आघातको सहन नही कर पाता। उसके चित्तमे क्षोभ होता है और क्षोभ उत्पन्न होनेपर सुधार नही होता। अत उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए।

७ इसके विपरीत कृति करके उस लडकेके मनपर हम यह अकित करते है कि वह देह है। शिक्षण-शास्त्रमे एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तको ध्यानमे रखना चाहिए। गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मै जिसे पढा रहा हूँ, वह सर्वाङ्गसुन्दर है। सवाल गलत होनेपर मुँहपर थप्पड लगाते है। उस चाँटेसे और सवालकी गलतीसे क्या सम्बन्ध? स्कूलमे देरसे आया, तो लगाया चाँटा। चाँटेसे उसके गालपर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा, पर इससे क्या वह स्कूलमे जल्दी आयेगा? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे है? बल्कि सच पूछिये तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशु-वृत्ति ही बढाते है। 'तुम यह देह ही हो' यह भावना पक्की करते है। उसका जीवन डरकी भावनापर खडा किया जाता है। सचमुच यदि हमे सुधार करना है, तो वह इस तरह जबरदस्ती करके देहासक्ति बढानेसे कभी नही हो सकता। जब मै यह समझ लूँगा कि मै देहसे भिन्न हूँ, तभी मेरा सुधार हो सकेगा।

८ देहमे अथवा मनमे रहनेवाले किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नही। इससे उस दोषको दूर करनेमे सहायता मिलती है, परन्तु हमे यह बात साफ तौरसे मालूम रहनी चाहिए कि 'मै देह नही हूँ'। 'मै' जो हूँ, सो इस देहसे सर्वथा भिन्न, पृथक्, अत्यन्त सुन्दर, उज्ज्वल, पवित्र, निर्दोष हूँ। अपने दोषो-को दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षण करता है, वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ही ऐसा करता है। अत जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो उसे गुस्सा नही आता, बल्कि इस शरीररूपी, इस मनोरूपी यत्रमे क्या दोष है, इसका विचार करके वह अपना दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देहको अपनेसे पृथक् नही मानता, वह सुधार कर ही नही सकता।'

देह, यह पिंड, यह मिट्टीका पुतला, यही मैं'–ऐसा जो मानता है, वह अपना सुधार कैसे करेगा ? सुधार तभी हो सकेगा, जब हम यह मानेंगे कि यह देह साधनरूपमे मुझे मिली है। चरखेमे यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया, तो क्या मुझे गुस्सा आता है ? वल्कि कोई दोप होता है, तो मै उसे दूर करता हूँ। ऐसी ही बात देहकी है। जैसे खेतीके औजार, वैसी ही यह देह है। देह भगवान्के घरकी खेतीका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराव हो जाय, तो इसे अवश्य वनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधनके रूपमे प्रस्तुत है। अत इस देहसे अपनेको अलग रखकर दोपोसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमे करना चाहिए। इस देहरूपी साधनसे मै पृथक् हूँ, मै स्वामी हूँ, मालिक हूँ, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेनेवाला मै हू। वचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी वृत्ति सिखानी चाहिए।

९ खेलसे अलग रहनेवाले तटस्थ लोग जैसे खेलके गुण-दोपोको अच्छी तरह देख सकते है, उसी तरह हम भी देह-मन-वुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोप परख सकेंगे। कोई कहता है–"इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है, इसका कोई उपाय वताइये न ?" जब मनुष्य ऐसा कहता है, तव वह उस स्मरणशक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है— "मेरी स्मरण-शक्ति खराव हो गयी है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार विगड गया है। किसीका लडका खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई स्वय खो गया है, ऐसा नही होता। अन्तमे मरते समय भी उसकी देह ही सव तरहसे नष्ट होती है, बेकार हो जाती है, पर वह स्वय तो भीतरसे ज्यो-का-त्यो रहता है। वह निर्दोप और नीरोग रहता है। यह वात समझ लेने जैसी है और यदि समझमे आ जाय, तो इससे वहुतेरी झझटोसे छुटकारा मिल जायगा।

६९ देहासक्तिसे जीवन अवरुद्ध

१० देह ही 'मैं' हूँ, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फल-स्वरूप मनुष्यने विना विचारे ही देह-पुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हे देखकर वडा भय मालूम होता है। मनुष्यकी यह धारणा सतत रहती है कि यह देह पुरानी हो गयी, जीर्ण-शीर्ण हो गयी, तो भी येन-केन प्रकारेण इसे वनाये ही रखना चाहिए, परन्तु अखिर इस देहको, इस छिलके-को आप कवतक टिकाकर रख सकेंगे ? मृत्युतक ही न ? जव मौतका वारट आ जायगा, तो क्षणभर भी शरीर टिकाये नही रख सकते। मृत्युके आगे सारा गर्व ठडा पड जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके

साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिंता करता है। कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मास खानेमे कोई हर्ज नहीं है। मानो मनुष्यकी देह बडी कीमती है, उसे बचानेके लिए मास खाओ! तो पशुकी देह क्या कीमतमे कम है? और है, तो क्यो? मनुष्य-देह क्यो कीमती सिद्ध हुई? क्या कारण है? पशु चाहे जिसे खाते है, सिवा स्वार्थके दूसरा कोई विचार ही नही करते! मनुष्य ऐसा नही करता, वह अपने आसपासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अत मानव-देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है। परतु जिस कारण मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई, उसीको तुम मास खाकर नष्ट कर देते हो! भले आदमी, तुम्हारा बडप्पन तो इसी बातपर अवलबित है न कि तुम सयमसे रहते हो, सब जीवोकी रक्षाके लिए उद्योग करते हो, सबकी सार-सँभाल रखनेकी भावना तुममे है! पशुसे भिन्न जो यह विशेषता तुममे है, उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है? इसीसे मानव-देह 'दुर्लभ' कही गयी है। परन्तु जिस आधारपर मनुष्य बडा—श्रेष्ठ—हुआ है, उसीको यदि वह उखाडने लगा, तो फिर उसके बडप्पनकी इमारत टिकेगी कैसे? साधारण पशु, जो अन्य प्राणियोका मास खानेकी क्रिया करते है, वही क्रिया यदि मनुष्य नि सकोच होकर करने लगे, तो फिर उसके बडप्पनका आधार ही खीच लेने जैसा होगा। यह तो जिस डालपर मै बैठा हूँ, उसीको काटनेका प्रयत्न करने जैसा हुआ।

११ आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुकी देहपर शल्यक्रिया करके उसके शरीरमे—उस जीवित पशुके शरीरमे—रोग-जतु उत्पन्न करते है और देखते है कि उन रोगोका उसपर क्या असर होता है। सजीव पशुको इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग इस क्षुद्र मानव-देहको बचानेके लिए किया जाता है! और यह सब चलता है 'भूत-दया' के नामपर। पशुके शरीरमे जतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्यके शरीरमे डालते हैं। ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे है। जिस देहके लिए हम यह सब करते है, वह तो कच्चे काँचकी तरह है, जो पलभरमे ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नही। यद्यपि मानव-देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं, फिर भी अतमे अनुभव क्या आता है? ज्यो-ज्यो इस नाजुक देहको सँभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यो-त्यो इसका नाश हो रहा है। यह प्रतीति हमे हो रही है, फिर भी इस देहको मोटी-ताजी करनेका, इसकी महिमा बढानेका प्रयत्न जारी ही है।

१२ हमारा ध्यान कभी इस बातकी ओर नही जाता कि किस प्रकारका

आहार करनेसे बुद्धि सात्त्विक होगी। मनुष्य देखता भी नही कि मनको अच्छा बनानेके लिए क्या करना चाहिए और किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढेगा। वह इसकी चिंता करता दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीरपर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके लोदे उसके शरीरपर कैसे लद जायँ। पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कडा सूखनेपर नीचे गिर पडता है, उसी तरह शरीरपर चढाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अतमे गल जाती है और शरीर फिर अपनी असली स्थितिमे आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या कि हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढा ले, इतना वजन बढा ले कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके ? शरीरको इतना थुलथुल बनाया ही क्यो जाय ? यह शरीर हमारा एक साधन है, अत इसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब हमे करना चाहिए। यत्रसे काम लेना चाहिए। लेकिन क्या कही यत्रको भी अभिमान—'यत्राभिमान' भी होता है ? फिर इस शरीररूपी यत्रके सबधमे भी हम इसी तरह विचार क्यो न करे ?

१३ साराश, यह देह साध्य नही, साधन है। यदि हमारा यह भाव दृढ हो जाय, तो फिर शरीरका जो इतना आडम्बर बॉधा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमे निराले ही ढगका दीखने लगेगा। फिर इस देहको सजानेमे हमे गौरवका अनुभव न होगा। वस्तुत इस देहके लिए एक सादा कपडा काफी है। पर नही, हम चाहते है, वह नरम, मुलायम हो। उसका बढिया रग हो, सुन्दर छपाई हो, अच्छे किनारे-बेल-बूटे हो, कलाबत्तू हो आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोसे तरह-तरहकी मेहनत कराते है। यह सब क्यो ? उस भगवान्‌को क्या अक्ल नही थी ? यदि इस देहके लिए सुन्दर बेल-बूटो और नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे बाघके शरीरपर उसने धारियाँ डाल दी हैं, वैसे क्या तुम्हारे-हमारे शरीरपर नही डाल देता ? उसके लिए क्या यह असभव था ? वह मोरकी तरह सुन्दर पूँछ हमे भी लगा सकता था, परन्तु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रग दिया है। उसमे जरा-सा दाग पड जाता है, तो उसका सौदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है, वैसा ही सुन्दर है। परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नही है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय। सृष्टिमे क्या सामान्य सौन्दर्य है ? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी ऑखोसे इसे निहारता रहे, परन्तु वह रास्ता भूल गया है। कहते है जर्मनीने हमारे रगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रग तो पहले ही मर चुका, बादमे तुम्हे इस बनावटी रगका शौक लगा। उसीके लिए तुम परावलबी हो गये। व्यर्थ

ही तुम इस शरीर-शृङ्गारके चक्करमे पड गये । मनको सजाना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुन्दर बनाना तो एक तरफ ही रह गया ।

७०. तत्त्वमसि

१४ इसलिए भगवान्‌ने इस तेरहवे अध्यायमे जो विचार हमे दिया है, वह बडा कीमती है । 'तू देह नही, आत्मा है ।' तत् त्वमसि—वह आत्मरूप तू है । यह बडा उच्च, पवित्र उद्‌गार है । पावन और उदात्त वचन है । संस्कृत-साहित्यमे यह बडा ही महान् विचार समाविष्ट किया गया है—"यह ऊपरका कवच, छिलका, ढॉचा तू नही है । वह असल अविनाशी फल तू है ।" जिस क्षण मनुष्यके हृदयमे यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मै नही, वह परमात्मा मै हूँ' यह भाव मनमे जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमे एक प्रकारका अननुभूत आनन्द लहराने लगेगा । मेरे उस रूपको मिटानेकी—नष्ट कर डालनेकी—सामर्थ्य ससारकी किसी भी वस्तुमे नही है, किसी व्यक्तिमे भी नही है । यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गारमे भरा हुआ है ।

१५ इस देहसे परे अविनाशी और निष्कलक जो आत्मतत्त्व है, वही मै हूँ । उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है । जब-जब उस परमेश्वरीय तत्त्वके दूषित हो जानेकी सभावना होगी, तब-तब मै उसे बचानेके लिए इस देहको फेक दूँगा । परमेश्वरीय तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मै सदा तैयार रहूँगा । मै जो इस देहपर सवार होकर आया हूँ, सो क्या इसलिए कि अपनी दुर्दशा कराऊँ ? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए । मै इस देहका उपयोग करूँगा और उसके द्वारा हित-मगलकी वृद्धि करूँगा । आनन्दें भरीन तिन्ही लोक—'आनन्द त्रिलोकमे भरूँगा ।' इस देहको मै महान् तत्त्वोके लिए फेक दूँगा और ईश्वरका जयजयकार करूँगा । रईस आदमी कपडा मैला होते ही उसे फेक देता है और दूसरा पहन लेता है, वैसा मै भी करूँगा । कामके लिए इस देहकी जरूरत है । जिस समय यह देह काम-के लायक न रह जायगी, उस समय इसे फेक देनेमे मुझे क्या पशोपेश हो सकता है ?

१६ सत्याग्रहके द्वारा हमे यही शिक्षण मिलता है । देह और आत्मा, ये अलग-अलग चीजे है । जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी, वास्तविक विकासकी शुरुआत होगी । उसी समय हमे सत्याग्रह सधेगा । अत प्रत्येकको यह भावना हृदयमे अकित कर लेनी चाहिए । देह तो निमित्तमात्र साधन है, परमेश्वरका दिया हुआ एक औजार

है। जिस दिन उसका उपयोग समाप्त होगा, उसी दिन उसे फेंक देना है। सर्दीके गरम कपडे हम गर्मियोमे फेंक देते है, रातको ओढे हुए कवल सुवह हटा देते है, सुवहके कपडे दोपहरको निकाल देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो। जवतक देहका उपयोग है, तवतक उसे रखेगे। जिस दिन इसका उपयोग न रहेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपडा फेंक देगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमे वता रहे है।

७१. जालिमकी सत्ता समाप्त

१७ जवतक हम यह न समझ लेगे कि देहसे मै अलग हूँ, तवतक जालिम लोग हमपर जरूर जुल्म ढाते रहेगे, हमे वदा–'गुलाम'–वनाते रहेगे, हमे न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेगे। भयके कारण ही जुल्म शक्य होता है।

एक राक्षसने एक आदमीको पकड रखा था। वह उससे वरावर काम लेता रहता था। जव कभी वह काम न करता, तो राक्षस कहता—"खा जाऊँगा, तुझे चट कर डालूँगा।" शुरूमे तो वह मनुष्य डरता रहा, परन्तु जव वह धमकी असह्य हो गयी, तो उसने कहा–"ले, खा डाल। खाना हो तो खा जा।" पर राक्षस उसे खा जानेवाला थोडे ही था। उसे एक वदा, गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था, परन्तु ज्यो ही यह जवाव मिला कि 'ले, खा जा', त्यो ही उसका जुल्म वन्द हो गया।

जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनकी देहको कष्ट पहुँचा कि ये गुलाम वने। परन्तु जहाँ आपने देहकी आसक्ति छोड दी कि तुरन्त सम्राट् वन जायँगे। सारी सामर्थ्य आपके हाथमे आ जायगी। फिर आपपर किसीका भी हुक्म नही चलेगा। जुल्म करनेका आधार ही टूट जाता है। उसकी वुनियाद ही इस भावनापर है कि 'देह मै हूँ'। वे समझते है कि इनकी देहको सताया कि ये वशमे आये। इसीलिए वे धमकीकी भाषा वोलते हैं।

१८ 'मै देह हूँ'—मेरी इस भावनाके कारण ही दूसरोको मुझपर जुल्म करनेकी, सतानेकी इच्छा होती है। परन्तु इग्लैडके शहीद क्रेन्मरने क्या कहा था? "मुझे जलाते हो। अच्छा, जला डालो। लो, पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।" इसी तरह रिड्ले और लटिमरने कहा था–"तुम जलाना चाहते हो? हमे कौन जला सकता है? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे है कि उसे कोई वुझा नही सकता। शरीररूपी इस मोमवत्तीको, इस चरवीको जला-

कर सत्तत्त्वोकी ज्योति जलाये रखना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायगी, वह तो मिटनेवाली ही है।"

१९ सुकरातको विप देकर मारनेकी सजा दी गयी। उसने कहा—"मै अव बूढा हो गया हूँ। चार दिनके वाद देह छूटनेवाली थी। जो मरनेवाला था, उसे मारकर आप लोग कौन-सी वहादुरी कर रहे है ? जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य है, उसे मारनेमे कौन-सी वहादुरी है ?" जिस दिन सुकरातको विप दिया जानेवाला था, उससे पहली रात वह शिष्योको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमे विपका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाएँ होगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था। उसे उसकी रत्तीभर भी चिन्ता न थी। आत्माकी अमरतासवधी यह चर्चा समाप्त होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—"मरनेपर आपकी अत्येष्टि-क्रिया कैसे की जाय ?" उसने जवाव दिया—'खूब, मारेगे तो वे और गाडोगे तुम ! तो क्या वे मारनेवाले मेरे दुश्मन और तुम गाडनेवाले मुझसे वडा प्रेम करनेवाले हो ? वे अक्लमन्दीसे मुझे मारेगे और तुम समझदारीसे मुझे गाडोगे ? तुम कौन हो मुझे गाडनेवाले ? मे तुम सवको गाडकर शेष वचनेवाला हूँ। तुम किसमे मुझे गाडोगे ? मिट्टीमे या नासमे ? मुझे न कोई मार सकता है, न कोई गाड ही सकता है। अवतक मैने क्या समझाया तुम लोगोको ? आत्मा अमर है, उसे कौन मार सकता है, कौन गाड सकता है ?" और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोसे वह महान् सुकरात सवको गाडकर जिन्दा है।

७२. परमात्म-शक्तिपर विश्वास

२० साराश, जवतक देहकी आसक्ति है, भय है, तवतक वास्तविक रक्षा नही हो सकती। तवतक सतत डर लगा रहेगा। यह डर वना रहेगा कि कही नीदमे साँप आकर न काट खाय, चोर आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डडा लेकर सोता है। 'क्यो ?' तो कहता है—"पासमे रखना अच्छा है, कही चोर-वोर आ जाय तो ?" अरे भले आदमी ! कही चोर वही डडा उठाकर तुम्हारे सिरपर मार दे तो ? चोर यदि डडा लाना भूल गया हो, तो तुम उसके लिए पहलेसे ही तैयारी कर रखते हो। तुम किसके भरोसे सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमे रहते हो। तुम जागते होगे, तभी न वचाव करोगे ? नीदमे तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

२१ मे किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास करके सोता हूँ। जिस शक्तिपर भरोसा रखकर वाघ, गाय आदि जानवर सोते है, उसीके भरोसे मे भी सोता

हूँ। बाघको भी तो नीद आती है। जो सारी दुनियासे वैर होनेके कारण हर घडी पीछे देखता है, ऐसा सिह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न होता, तो कुछ बाघ सोते और कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हे करनी पडती। जिस शक्तिपर विश्वास रखकर भेडिया, बाघ, सिह आदि क्रूर जीव भी सोते है, उसी विश्वव्यापक शक्तिकी गोदमे मै भी सो रहा हूँ। माँकी गोदमे बच्चा निश्चिन्त सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह होता है। हमे चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वम्भर माताकी गोदमे इसी तरह प्रेम, विश्वास और ज्ञानपूर्वक सोनेका अभ्यास करे। जिस शक्तिके आधारपर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। उस शक्तिकी मुझे उत्तरोत्तर प्रतीति होनी चाहिए। इस शक्तिमे मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा, वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवे अध्यायमे इसका किंचित् क्रम भी दिग्-दर्शित किया गया है।

७३. परमात्म-शक्तिका उत्तरोत्तर अनुभव

२२ जबतक देहस्थित आत्माका विचार नही आता, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओमेही तल्लीन रहता है। भूख लगी तो खा लिया, प्यास लगी तो पानी पी लिया, नीद आयी तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नही जानता। इन्ही बातोके लिए वह लडेगा, इन्हीकी प्राप्तिका लोभ मनमे रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओमे ही वह मग्न रहता है। विकासका आरम्भ तो इसके बादसे होता है। इस समयतक आत्मा सिर्फ देखती रहती है। माँ जिस तरह कुएँकी ओर रेगते जानेवाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खडी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हमपर निगाह रखे खडी रहती है। शातिके साथ वह सब क्रियाओको देखती है। इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'—साक्षीरूपसे सब देखनेवाला—कहा है।

२३ इस अवस्थामे आत्मा देखती है, परन्तु अभी वह सम्मति नही देती है। परन्तु यह जीव, जो अबतक अपनेको देहरूप समझकर सब क्रिया, सब व्यवहार, करता है वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मै पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूँ। जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब पग-पगपर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-वुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाएँ रुकती है। स्वच्छन्दताकी जगह सयम आता है।

२४ जव जीव इस नैतिक भूमिकामे आता है, तव आत्मा केवल चुप वैठकर नही देखती, वह भीतरसे अनुमोदन करती है—'शावाश', 'खूव',—ऐसी आवाज अदरसे आती है। अव आत्मा केवल 'उपद्रष्टा' न रहकर 'अनुमन्ता' वन जाती है।

कोई भूखा अतिथि द्वारपर आ जाय, आप अपनी परोसी थाली उसे दे दे और फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिये मनको कितना आनद होता है! भीतरसे आत्माकी हलकी आवाज कानोमे पहुँचती है, 'वहुत अच्छा किया'। माँ जव वच्चेकी पीठपर हाथ फिराकर कहती है, 'अच्छा किया वेटा', तो उसे ऐसा लगता है, मानो दुनियाकी सारी वख्शिश उसे मिल गयी। इसी तरह हृदयस्थ परमात्माके 'शावाश वेटा' शब्द हमे प्रोत्साहन और प्रेरणा देते है। ऐसे समय जीव भोगमय जीवन छोडकर नैतिक जीवनकी भूमिकामे आ खडा होता है।

२५ इसके वादकी भूमिका यह है। नैतिक जीवनमे मनुष्य कर्तव्यकर्मके द्वारा अपने मनके सभी मैलोको धोनेका यत्न करता है, परतु जव मनुष्य ऐसा करते-करते थकने लगता है, तव जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है-'हे भगवन्! मेरे उद्योगोकी, मेरी शक्तिकी पराकाष्ठा हो गयी। मुझे अधिक शक्ति दे, अधिक वल दे।' जवतक मनुष्यको यह अनुभव नही होता कि अपने सभी प्रयत्नोके वावजूद वह अकेला ही पर्याप्त नही हो सकता, तवतक प्रार्थनाका मर्म उसकी समझमे आ नही सकता। अपनी सारी शक्ति लगानेपर भी, जव वह पर्याप्त नही जान पडतो तव, आर्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरकी कृपा और सहायताका स्रोत तो सतत वहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमेसे पानी पी सकता है। जिसे कमी पडती हो, वह माँग ले। इस तरहका सम्वन्ध इस तीसरी भूमिकामे आता है। परमात्मा और अधिक निकट आता है। अव वह केवल शाब्दिक शावाशी न देते हुए सहायता करनेके लिए दौड आता है।

२६ पहले परमेश्वर दूर खडा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खडा रहता है, उसी तरह जवतक जीव भोगमय जीवनमे लिप्त रहता है, तवतक परमात्मा दूर खडा रहता है। वह कहता है—"ठीक है, मारने दो हाथ पैर।" फिर जीव नैतिक भूमिकामे आता है। तव परमात्मा केवल तटस्थ नही रहता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झाँकता है और कहता है—'शावाश!' इस तरह

सत्कर्म होते-होते अब चित्तके स्थूल मैल धुल जाते है, सूक्ष्म मैल धुलनेका समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते है, तब वह परमात्माको पुकारता है और वह 'आया' कहकर दौड आता है। भक्तका उत्साह कम पडते ही वह वहाँ आ खडा होता है। जगत्का सेवक सूर्यनारायण आपके द्वारपर सदैव खडा ही है। बद द्वारको तोड़कर सूर्य भीतर नही घुसेगा, क्योकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादाका पालन करता है। वह दरवाजेको धक्का नही देता। भीतर मालिक सोया है, इसलिए सूर्यरूपी सेवक दरवाजेके बाहर खडा रहता है। जरा-सा दरवाजा खोलते ही वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर भीतर घुस आता है और अँधेरा दूर कर देता है। परमात्मा भी ऐसा ही है। उससे मदद माँगी कि वह बाँह फैलाकर आया ही। भीमाके किनारे (पढर-पुरमे) कमरपर हाथ रखकर वह तैयार ही खडा है।

उभारूनि बाहे। विठो पालवीत आहे ॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है। नाक खुली रखी कि हवा भीतर घुसी। दरवाजा जरा-सा खोला कि प्रकाश भीतर आया। वायु और प्रकाशके दृष्टान्त भी मुझे अधूरे मालूम होते है। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक समीप, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहकर 'भर्ता'-सब तरह सहायक-बनता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए असहाय होकर जब हम पुकारते है—**मारी नाड़ तमारे हाथे प्रभु सभाळजो रे।** हम प्रार्थना करते है-तू ही **एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है।** तब फिर वह दयाधन कैसे दूर रहेगा ? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान्, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड़ पडता है। तब वह रैदासके चमडे धोता है, सजन कसाईका मास बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है और जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

२७ इसके बादकी सीढी यह है। परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिले, उसे भी स्वय न लेकर उसीको अर्पण कर देना। इस भूमिकामे जीव परमेश्वरसे कहता है—"अपना फल तू ही भोग।" नामदेव धरना देकर बैठ गया कि "प्रभु, तुझे दूध पीना ही पडेगा।" कितना मधुर प्रसग है। वह सारा कर्मफलरूपी दूध नामदेव भगवान्को अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूँजी, सारी कमाई जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई, उसीको वह समर्पित करनी है। धर्मराज स्वर्गमे चरण रखनेवाले ही थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नही जाने दिया गया। तब उन्होने अपने सारे जीवनका पुण्यफल—स्वर्गलाभ—एक क्षणमे छोड दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ तत्काल

ईश्वरार्पण कर देता है। 'उपद्रष्टा', 'अनुमन्ता', 'भर्ता'–इन स्वरूपोमे प्रतीत होनेवाला परमात्मा अव 'भोक्ता' हो जाता है। अव जीव उस भूमिकामे आ जाता है, जव परमात्मा ही इस शरीरमे भोगोको भोगता है।

२८ इसके वाद सकल्प करना भो छोड देना है। कर्ममे तीन सीढियाँ आती है। पहले हम सकल्प करते है, फिर कार्य करते है और वादमे फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीको अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर। अव उस कर्मका सकल्प करनेवाला भी परमेश्वर हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अन्तमे सर्वत्र प्रभुको ही रहने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माळियें जेउत नेलें। तेंउतें निवात चि गेलें।
तया पाणिया ऐसें केलें। होआवें गा ॥

–'माली जिधर ले जाय, उधर ही चुपचाप चले जानेवाले पानीकी तरह वनो।'

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है, उधर ही वह विना ची-चपड किये चला जाता है। माली अपनी पसदके फल-फूलके पौधोको पानी पोसता और वढाता है। इसी तरह मेरे हाथो जो कुछ होना है, वह उसीको तय करने दो। अपने चित्तके सभी सकल्पोकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौपने दो। यदि मैने अपना सारा वोझ घोडेपर डाल ही दिया है, तो वाकी वोझा मै अपने सिर-पर क्यो लादकर वैठूँ ? वह भी घोडेकी पीठपर ही क्यो न लाद दूँ ? अपने सिर-पर वोझ रखकर भी यदि मै घोडेपर वैठूँगा, तो भी वोझ घोडेपर ही पडेगा, फिर सारा ही वोझ उसकी पीठपर क्यो न लाद दूँ ? इस तरह जीवनकी सभी हलचल, नाच-कूद, फलना-फलाना, सव कुछ अन्तमे परमात्मा ही हो जाता है। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही वन जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वरमय हो जाता है, केवल देहका पर्दा ही वाकी रहता है। वह जव हट जाता है, तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा एक हो हो जाते है।

२९ इस प्रकार—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर.।

इस स्वरूपमे हमे परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले केवल तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरम्भ होनेपर हमारे हाथोसे सत्कर्म होने लगते है, तव वह हमे 'शावाशी' देता है। फिर

चित्तके सूक्ष्म मैल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है, तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड पडता है। उसके वाद फलको भी भगवान्‌को अर्पण करके उसे 'भोक्ता' बना देना और अन्तमे सभी सकल्प उसीको अर्पण करके सारा जीवन हरिमय बनाना है। यही मानवका अतिम साध्य है। 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग'-रूपी दो पखोसे उडते हुए साधक-को इस अतिम मजिलतक जा पहुँचना है।

७४. नम्रता, निर्दम्भता आदि मूलभूत ज्ञान-साधना

३० यह सब करनेके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद चाहिए। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए। सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको फेककर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनका श्रीगणेश करना है। फिर आत्म-प्रयत्न और परमेश्वरीय कृपाके बलपर ऊपर चढते जाना है। इस सारी साधनामे यदि हम देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल ले, तो हमे बडी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे ईसाका बलिदान याद आ जाता है। उनके शरीरमे कीले ठोक-ठोककर उनके प्राण ले रहे थे। कहते है, उस समय उनके मुँहसे ये उद्‌गार निकले—"भगवन्, इतनी यातनाएँ क्यो देते है ?" किन्तु फौरन् भगवान् ईसाने अपनेको सँभाला और कहा—"प्रभु, तेरो हो इच्छा पूर्ण हो। इन लोगोको क्षमा कर। ये नही जानते कि ये क्या कर रहे है।" ईसाके इस उदाहरणमे बड़ा रहस्य भरा है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह प्रतीक है। कहाँतक मजिल तय करनी है, कहाँतक वह तय की जा सकती है, यह ईसामसीहके जीवनसे मालूम हो जाता है। देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रही है—यहाँतक मजिल आ पहुँची है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमे आता है, तब-तब ईसामसीहका यह जीवन मेरी आँखोके सामने आ जाता है। देहसे सर्वथा पृथक् हो जानेका, उससे मानो सबध टूट जानेका उदाहरण ईसामसीहका जीवन पेश करता है।

३१ देह और आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नही है, जबतक सत्य-असत्यका विवेक न हो। यह विवेक, यह ज्ञान, हमारी रग-रगमे व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते है-'जानना', परतु बुद्धिसे जानना ज्ञान नही है। मुँहमे कौर डाल लेना भोजन कर लेना नही है। मुँहमे डाला कौर चवाकर गलेमे जाना चाहिए और वहाँसे पेटमे जाकर, पचकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमे पहुँचकर पुष्टि मिलनी चाहिए। ऐसा हो, तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नही चल सकता। वह जानकारी,

वह ज्ञान सारे जीवनमे व्याप्त होना चाहिए, हृदयमे सचरित होना चाहिए। हमारे हाथ, पाँव, आँख आदि इन्द्रियोके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए कि सारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ विचारपूर्वक ही सव कर्म कर रही है। इसलिए इस तेरहवे अध्यायमे भगवान्ने ज्ञानकी वहुत वढिया व्याख्या की है। स्थितप्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके लक्षण है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।

ऐसे वीस गुण भगवान्ने वताये है। वे केवल यह कहकर नही रुके कि इन गुणोको 'ज्ञान' कहते है, वल्कि यह भी स्पष्ट वताया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना वतायी, उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्गुणको ही मै ज्ञान मानता हूँ। साधना और साध्य, दोनो एकरूप ही है।

३२ गीताके इन वीस साधनोको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिया है। उन्होने इनका वर्णन वडी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोसे सवध रखनेवाले केवल पाँच ही श्लोक भगवद्गीतामे है, परन्तु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमे इनपर सात सौ ओवियाँ (छद) लिखी है। वे इस वातके लिए वडे चिन्तित थे कि समाजमे सद्गुणोका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोका वर्णन करते हुए उन्होने अपना सारा अनुभव उन ओवियोमे उँडेल दिया है। मराठी भाषा-भाषियोपर उनका यह अनत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममे ये गुण व्याप्त थे। भैसेकी पीठपर जो चावुक लगाया गया, उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठपर उभर आया। भूतमात्रके प्रति इतनी दयार्द्रता उसमे थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोका उन्होने विवेचन किया। उसका गुण-वर्णन हम पढे, मनन करे और हृदयमे भर ले। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मै चख सका—इसके लिए मै अपनेको धन्य मानता हूँ। उनकी मधुर भाषा मेरे मुँहमे आकर वैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पडे, तो मै धन्यताका ही अनुभव करूँगा। अस्तु। सार यह कि उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए, आत्माको देहसे पृथक् करते हुए सव लोग अपने जीवनको परमेश्वरमय वनानेका यत्न करे।

रविवार, १५-५-'३२

१४ | गुणोत्कर्ष और गुण-निस्तार

७५. प्रकृतिका विश्लेषण

१ भाइयो, आजका चौदहवाँ अध्याय एक अर्थमे पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता ही नही है। वह स्वयपूर्ण है। हमारी आत्माकी गति स्वभावत ही ऊर्ध्वगामी है, परन्तु किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बॉध दिया जाता है, तब जैसे वह नीचे खिचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खीच ले जाता है। पिछले अध्यायमे हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सके, तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल भी महान् है। आत्माके पॉवकी यह देहरूपी बेडी यदि हम काट सकें, तो हमे भारी आनन्द प्राप्त होगा। फिर मनुष्य देहके दु खसे दु खी न होगा। वह स्वतन्त्र हो जायगा। इस देहरूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले, तो फिर ससारमे कौन उसपर सत्ता चला सकता है ? जो स्वयपर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट् हो जाता है। अत आत्मा-पर देहकी जो सत्ता हो गयी है, उसे हटा दो। देहके ये जो सुख-दु ख है, सब विदेशी है। सब विजातीय ह। आत्मासे उनका तिलमात्र भी सम्बन्ध नही है।

२ इन सब दु खोको किस अशतक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैने भगवान् ईसाके उदाहरणद्वारा बतायी है। उन्होने दिखा दिया है कि देह टूट रही हो, फिर भी हम किस तरह शात और आनन्दमय रहे, परन्तु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहॉ एक ओर विवेकका काम है, वहाँ दूसरी ओर वह निग्रहका भी काम है।

विवेकासहित वैराग्याचें बळ।

'विवकके साथ वैराग्यका बल।' ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य, दोनो बातोकी जरूरत है। वैराग्य ही एक प्रकार निग्रह, तितिक्षा

है। इस चौदहवे अध्यायमे निग्रहकी दिशा दिखायी गयी है। नावको खेनेका काम डॉड करते है, परन्तु दिशा दिखानेका काम पतवार करती है। डॉड और पतवार, दोनो चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दु खोसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह, दोनोकी आवश्यकता है।

३ वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवान्ने चौदहवे अध्यायमे सम्पूर्ण प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारियाँ है, यह बताया है। इसमे प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गये है। राजनीति-शास्त्रमे विभाजनका एक बडा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमे यदि विभाजन किया जा सके, भेद डाला जा सके, तो वह शीघ्र पराजित किया जा सकता है। भगवान्ने यहाँ ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवोकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमे कफ, पित्त, वात है, उसी तरह यहाँ सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण प्रकृतिमे भरे हुए हैं। सब जगह इन्ही तीन गुणोका मसाला भरा है। कही कम है, तो कही ज्यादा, इतना ही अन्तर है। जब इन तीनोसे आत्माको अलग करेगे, तभी देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलग करनेका तरीका ही है, इन तीन गुणोकी परीक्षा करके इन्हे जीत लेना। निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अन्तमे मुख्य वस्तुतक जा पहुँचना है।

७६. तमोगुण और उसका उपाय शरीर-श्रम

४ पहले हम तमोगुणको ले। वर्तमान समाज-स्थितिमे हमे तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते है। इसका मुख्य परिणाम है, आलस्य। इसीमेसे फिर नीद और प्रमादका जन्म होता है। इन तीन बातोको जीत लिया, तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो। इनमे आलस्य तो बडा ही भयकर है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी आलस्यके कारण विगड जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शातिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है। यह छोटेसे लेकर बडेतक, सबको बिगाड देता है। इस शत्रुने सबको घेर रखा है। यह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा। दो कौर ज्यादा खा लिये कि इसने लेटनेको विवश किया। जहाँ ज्यादा लेटे कि आँखोसे आलस्य टपका। जबतक इस आलस्यको न पछाडा, तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ है। परन्तु हम तो आलस्यके लिए ८

रहते है ! इच्छा रहती है कि एक वार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर ले, फिर सारी जिदगी चैनसे कटे। वहुत रुपये कमानेका अर्थ है, आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आम तौरपर मानते हैं कि वुढापेमे आरामकी जरूरत रहती है, परन्तु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमे ठीक तरहसे रहे, तो वुढापेमे भी काम करते रहेगे। वल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे वुढापेमे ज्यादा उपयोगी सावित होगे। लेकिन उसी समय, कहते है कि आराम करेंगे !

५ ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको जरा-सा भी मौका न मिले। नल-राजा इतना महान् ! परन्तु पाँव धोते हुए जरा-सा हिस्सा सूखा रह गया, तो कहते हैं कि उसीमेसे कलि भीतर पैठ गया ! नल राजा था तो अत्यन्त शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परन्तु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया, तो फौरन् 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा शरीर खुला पडा है। कहीसे भी आलस्य हमारे अन्दर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-वुद्धि भी अलसाने लगती है। आजके समाजकी रचना इस आलस्यपर ही खडी है। इससे अनन्त दु ख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें, तो सव न सही, वहुतसे दु खोको तो अवश्य ही हम दूर कर सकेंगे।

६ आजकल चारो ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए, आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख है, तो दूसरी ओर अतिशय दु ख। एक ओर सपत्तिका ढेर, तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई ! यह सामाजिक विपमता कैसे दूर हो ? सभी आवश्यक सुख सहज रूपसे प्राप्त करनेका एक ही उपाय है और वह है, आलस्य छोडकर सव श्रम करनेको तैयार हो। मुख्य दु ख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सव लोग शारीरिक श्रम करनेका निश्चय कर ले, तो यह दु ख दूर हो जाय।

परन्तु आज समाजमे हमे क्या दीखता है ? एक ओर जग चढकर निरुपयोगी वने हुए लोग है। श्रीमानोकी इद्रियाँ जग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नही किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमे शारीरिक श्रमसे वचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पचकर काम करते हैं, वे खुशी-खुशी ऐसा नही करते। छुटकारा नही है, इसलिए करते हैं। पढे-लिखे समझदार लोग श्रमसे वचनेके लिए तरह-तरहके वहाने वनाते हैं। कोई कहते हैं—"व्यर्थ क्यो

शारीरिक श्रममे समय गँवाये ?" परतु कोई ऐसा नही कहता–"यह नीद क्यो ले ?" "भोजनमे समय क्यो नष्ट करे ?" भूख लगती है, तो खाते है। नीद आती है, तो सो जाते है। परतु जब शारीरिक श्रमका प्रश्न आता है, तभी हम कहते है–"व्यर्थ क्यो अपना समय नष्ट करे ? हम क्यो यह काम करे ? क्यो हम अपने शरीरको इतने कष्टमे डाले ? हम मानसिक श्रम तो कर ही लेते है !" भले आदमी ! यदि मानसिक काम करते है, तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिये और नीद भी मानसिक ले लीजिये ! मनोमय भोजन करनेकी योजना बना लीजिये न !

७ इस तरह समाजमे दो तरहके लोग है। एक तो वे, जो दिन-रात पिसते-मरते है और दूसरे वे, जो हाथतक नही हिलाते। मेरे एक मित्रने एक दिन कहा–"कुछ रुण्ड है तो कुछ मुण्ड।" एक ओर धड है, दूसरी ओर सिर। धड सिर्फ खपता है, सिर सिर्फ विचार करता है। इस तरह समाजमे ये राहु-केतु, रुण्ड और मुण्ड, ऐसे दो प्रकार हो गये है। परतु यदि सचमुच ही ये रुण्ड-मुण्ड होते, तो अच्छा होता। तब अध-पगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अधेको लँगडा रास्ता दिखाता, लँगडेको अधा कधेपर बैठाता। परन्तु यहाँ केवल रुण्डके अथवा केवल मुण्डके अलग-अलग गुट नही है। प्रत्येकमे रुण्ड और मुण्ड दोनो है। ये जुडे रुण्ड-मुण्ड सब जगह है। तब क्या करे ? उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति आलस्य छोड दे।

८ आलस्य छोडनेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका यही एक उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया, तो इसकी सजा भी प्रकृतिकी ओरसे मिले बिना न रहेगी। बीमारियोके या किसी और कष्टके रूपमे वह सजा भोगनी ही पडेगी। जब कि हमे शरीर मिला है, तो श्रम करना ही होगा। शरीर-श्रममे जो समय लगता है, वह व्यर्थ नही जाता। इसका प्रतिफल अवश्य मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। कई विचारकोके विचारोमे भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्दका प्रतिबिंब प्रकट होता है। विचारशील लोग यदि धूपमे, खुली हवामे, सृष्टिके सान्निध्यमे श्रम करेगे, तो उनके विचार भी तेजस्वी बनेगे। शारीरिक रोगका जैसे मनपर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है। बादमे क्षय रोग होनेपर भुवाली या और कही पहाडपर शुद्ध हवामे जाने या सूर्य-किरणोका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमे पेडोको पानी देने और लकडी चीरनेका काम करे, तो क्या बुरा है ?

७७. तमोगुणका एक और उपाय

९ पहली बात है आलस्य जीतना, दूसरी बात है नीद जीतना। नीद वस्तुत पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-सतोकी नीद एक योग ही है। इस प्रकारकी शात और गहरी नीद परम भाग्यवानोको ही मिलती है। नीद गहरी, गाढी होनी चाहिए। नीदका महत्त्व लबाई-चौडाईपर नही है। बिछौना कितना लबा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पडा रहा, इस बात-पर नीद अवलबित नही है। कुआँ जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नीद चाहे थोडी हो, पर यदि गहरी हो, तो उससे बडा काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घटा अध्ययन, चचलतासे किये गये तीन घटेके अध्ययनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नीदकी है। लम्बी नीद अन्तमे हितकर ही होती है, ऐसा नही कह सकते। बीमार चौबीसो घटे बिस्तरपर पडा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार भेट है, लेकिन नीदसे भेट ही नही। सच्ची नीद वह, जो गहरी और नि स्वप्न हो। मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परन्तु जिसे नीद अच्छी नही आती, दु स्वप्न आते रहते है, उसकी यातनाका हाल मत पूछिये। वेदमे ऋषि त्रस्त होकर कहते है–

परा दु.स्वप्न्यं सुव।

'ऐसी दुष्ट नीद मुझे नही चाहिए, नही चाहिए।' नीद आरामके लिए होती है, परन्तु यदि उसमे भी तरह-तरहके स्वप्न और विचार पिड न छोडते हो, तो आराम कहाँ ?

१० तो गहरी और गाढी नीद आये कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नीदके लिए भी है। शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौनेपर जाते ही मनुष्य मुर्देकी तरह पडेगा। नीद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुन्दर मृत्यु आनेके लिए दिनमे पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अग्रेज कवि शेक्सपियरने कहा है— "राजाके सिरपर तो मुकुट है, परन्तु सिरमे चिता है।" राजाको नीद नही आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नही करता। जागनेके समय जो सोता है, वह सोनेके समय जागता रहेगा। दिनमे बुद्धि और शरीरका उपयोग न करना नीद नही तो क्या है ? फिर नीदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है और शरीर भी वास्तविक निद्रासुख नही पाता। तब देरतक सोते पडे रहते हैं। जिस जीवनमे परम पुरुपार्थ साधना है, उसे यदि नीदने खा

डाला, तो पुरुषार्थ कब किया जायगा? आधा जीवन यदि नींदमे ही चला गया, तो फिर क्या प्राप्त कर सकेंगे?

११ जब बहुत-सा समय नीदमे ही चला जाता है, तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष–'प्रमाद' सहज ही होने लगता है। निद्रालु मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नही रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नीदसे फिर आलस्य बढता है और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमे भी विस्मृतिसे हानि होती है, परन्तु हमारे समाजमे तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात बन बैठी है। विस्मृति कोई बडा दोष है, ऐसा किसीको लगता ही नही। किसीसे भेट करना निश्चित करते है, परन्तु समयपर जाते नही। पूछनेपर कहते है–"अरे भाई, मै तो भूल ही गया।" कहनेवालेको भी कोई बडी भूल हो गयी है, ऐसा नही लगता और सुननेवाला भी स तुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नही है, ऐसा लोगोका खयाल बना हुआ-सा दीखता है, परन्तु यह गफलत परमार्थमे भी हानिकर है और सासारिक जीवनमे भी। वास्तवमे विस्मरण एक बडा रोग है। उससे बुद्धिमे घुन लग जाता है। जीवन खोखला हो जाता है।

१२ मनका आलस्य विस्मरणका कारण है। मन यदि जागृत रहे, तो वह भूलेगा नही। लेटे रहनेवाले मनको विस्मरणरूपी बीमारी हुए बिना नही रहती। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते है–

पमादो मच्चुनो पदम्।

–'प्रमाद, विस्मरण, मृत्यु ही है।' इस प्रमादपर विजय पानेके लिए आलस्य और निद्राको जीतिये। शरीर-श्रम कीजिये और सतत सावधान रहिये। जो-जो काम करिये, विचारपूर्वक करिये। यो ही बिना विचारे कोई काम नही होना चाहिए। कृतिके पहले विचार, बादमे भी विचार। आगे-पीछे सर्वत्र विचाररूपी परमेश्वर खडा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल ले तो फिर अनवधानरूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बॉधे रखिये। एक-एक क्षणका हिसाब रखिये, तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नही रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुणको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

७८ रजोगुण और उसका उपाय स्वधर्म-मर्यादा

१३ इसके उपरान्त रजोगुणसे मोर्चा लेना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। तमोगुणका ही दूसरा पहलू है, बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनो

पर्यायवाची शब्द है। जब शरीर बहुत सो चुकता है, तो वह हलचल करने लगता है और जब शरीर बहुत दौड-धूप कर चुकता है, तब विस्तरपर पडना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी, और रजोगुणसे तमोगुणकी प्राप्ति होती है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा आया ही समझिये। जिस तरह रोटी आग और गरम राखके बीच फँस जाती है, उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते है। रजोगुण कहता है–"इधर आ, तुझे तमोगुणकी तरफ उडाऊँ।" तमोगुण कहता है–"मेरी तरफ आ, तुझे रजोगुणकी ओर फेंकूँ।" इस प्रकार ये रजोगुण और तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते है। फुटबॉलका जन्म जैसे ठोकरे खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुणकी और तमोगुणकी ठोकरे खानेमे ही बीतता है।

१४. रजोगुणका प्रधान लक्षण है–नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा, प्रचण्ड कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरम्पार कर्म-सग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारोका वेग सँभलने नही पाता। इधरका पहाड उठाकर उधरका खड्डा भर डालनेकी इच्छा होती है। समुद्रमे मिट्टी डालकर उसे पाटने और उधर सहाराके रेगिस्तानमे पानी भरकर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदूँ, उधर पनामा नहर बनाऊँ, ऐसी उधेड-बुन शुरू होती है। जोड-तोडके सिवा चैन नही पडता। छोटा बच्चा जैसे कपडेकी धज्जीको लेकर उसे फाडता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमे यह मिलाओ, उसमे वह डुबाओ, उसे यो उडाओ, इसे यो बनाओ–ऐसे ही अनन्त खेल रजोगुणके होते है। पक्षी आकाशमे उडता है, हम भी आकाशमे क्यो न उडे ? मछली पानीमे रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमे क्यो न रहे ? इस तरह, नर-देहमे आकर पक्षियो और मछलियोकी बराबरी करनेमे हमे कृतार्थता मालूम होती है। परकाया-प्रवेशकी तथा दूसरी देहोके आश्चर्योका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमे सूझती है। कोई कहता है–"चलो, मगलकी सैर कर आये और वहाँकी आवादी देख आये।" चित्त सतत भ्रमण करता रहता है, मानो अनेक वासनाओका भूत ही हमारे शरीरमे वैठ गया है। जो जहाँ है, वह वहाँ देखा ही नही जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है—मै इतना वडा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे ? किसी पहल-वानके शरीरमे मस्ती चढती है। उसे उतारनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है, तो कभी पेडको धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी ही उमगे होती है। इनके प्रभावमे आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है, उसके पेटमेसे

कुछ पत्थर निकालता है और उन्हे वह हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी तरह उमगके वशीभूत होकर वह समुद्रमे गोता लगाता है और उसकी तलीका कूडा-करकट ऊपर लाकर उसे 'मोती' नाम देता है। मोतीमे छेद नही होता, अत उसमे छेद करता है। अव ये मोती पहने कहाँ ? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाता है। मनुष्य यह सब उखाड-पछाड क्यो करता है ? यह सारा रजोगुणका प्रभाव है।

१५ रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमे स्थिरता नहीं रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अत जरा-सी विघ्नवाधा आते ही वह अगीकृत मार्ग छोड देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज वदलता रहता है। इसका परिणाम यही होता है कि अन्तमे पल्ले कुछ भी नही पडता।

राजस चलमध्रुवम्।

रजोगुणकी सारी कृति चचल और अनिश्चित रहती है। छोटे वच्चे गेहूँ वोते हैं और तुरन्त खोदकर देखते है। वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झटपट सव-कुछ उसके पल्ले पडना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। सयम खो देता है। एक जगह पाँव जमाना वह जानता ही नही। यहाँ जरा-सा काम किया, वहाँ कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला दूसरी जगह। आज मद्रासमे मानपत्र, कल कलकत्तेमे और परसो वम्वई-नागपुरमे। सभी म्युनिसिपैलिटियोंसे मानपत्र पानेकी उसे लालसा रहती है। मान-ही-मान उसे सव जगह दीखता है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नही होती। इससे रजो-गुणी मनुष्यकी स्थिति बडी भयानक होती है।

१६ रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धधो, कार्योमे टाँग अडाता रहता है। उसका स्वधर्म नही रहता। वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है, अन्य वहुतेरे कार्योका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका रामवाण उपाय है। रजोगुणमे सव कुछ चचल है। पर्वतके शिखरपरसे गिरनेवाला पानी यदि विविध दिशाओमे वहने लगे, तो फिर वह कहीका नही रहता। सारा-का-सारा विखरकर वेकार हो जाता है। परन्तु वही यदि एक दिशामे वहेगा, तो आगे चलकर उसकी एक नदी वन जायगी। उसमेसे शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुँचेगा। इसी तरह मनुष्य यदि अपनी शक्ति विविध उद्योगोमे न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमे सुव्यवस्थित रूपसे लगाये, तो उसके हाथसे कुछ कार्य हो सकेगा। इसलिए स्वधर्मका महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिन्तन करके उसीमे सारी शक्ति लगानी चाहिए। दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पाये। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई बड़ा अथवा विलक्षण कर्म नही है। बहुत सारा कर्म करना भी कर्मयोग नही है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना, नही तो यो सृष्टिमे सतत कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगका अर्थ है, विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमे बीज बोना और यो ही मुट्ठीभर अनाज लेकर कही फेक देना—दोनो सर्वथा भिन्न बाते है। दोनोमे बडा अन्तर है। हम देखते ही है कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और यो ही उसे फेक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है, वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्मरूप कर्तव्यमे असीम शक्ति रहती है। वहाँ सभी परिश्रम अधूरे पडते है। अत उसमे भारी दौड-धूपके लिए कोई अवसर ही नही रहता।

७९. स्वधर्मका निश्चय कैसे करें ?

१७ यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय ? ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्यके जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जनमा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी माँ खोजनी नही पडती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको खोजना नही पडता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बडा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमे हमारा जन्म हुआ है। जिन माँ-बापके यहाँ मैने जन्म लिया है, उनकी सेवा, जिन पास-पडोसियोके बीच जनमा हूँ, उनकी सेवा—ये कर्म मुझे निसर्गत ही मिले है। फिर मेरी वृत्तियाँ तो मेरे नित्य अनुभवकी ही है न ? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है, अत भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, यह धर्म मुझे सहज ही प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवारूप, भूतदयारूप स्वधर्म हमें खोजना नही पडता। जहाँ कही स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कही जाना नही पडता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परन्तु एक बात ध्यानमे रखनी चाहिए कि जो अनायास

प्राप्त हो, वह सव सदा धर्म्य ही होता हो, ऐसी वात नही है। कोई किसान रातको मुझसे कहे–"चलो, वह वाड चार-पाँच हाथ आगे हटा दें। मेरा खेत वढ जायगा। अभी कोई है नही, विना शोरगुलके सव काम हो जायगा।" यद्यपि यह काम मुझे अपना पडोसी वता रहा है और यह सहज प्राप्त भी दीखता है, तो भी इसमे असत्यका आश्रय होनेके कारण यह मेरा कर्तव्य नही ठहरता।

१८ चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे अच्छी लगती है, उसका कारण यही है कि उसमे स्वाभाविकता और धर्म, दोनो है। इस स्वधर्मको छोडनेसे काम नही चल सकता। जो माँ-वाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे माँ-वाप रहेगे। यदि मै कहूँ कि वे मुझे पसन्द नही है, तो कैसे काम चलेगा? माता-पिताका व्यवसाय स्वभावत ही लडकेको विरासतमे मिलता है। जो व्यवसाय वश-परपरासे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसीको करना, उसी उद्योगको आगे चलाना चातुर्वर्ण्यकी एक वडी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्त-व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज वहुत कठिन हो गया है, परन्तु यदि वह फिरसे सुव्यवस्थित स्थापित की जा सके, तो वहुत अच्छा होगा। आज शुरूके पचीस-तीस साल तो नये धधे सीखनेमे ही चले जाते है। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरूके पचीस साल तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई सवध नही रहता। कहते है, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना वादमे है। कहते है, पहले सव सीखना और वादमे जीना। मानो जीना और सीखना, ये दोनो चीजे अलग-अलग कर दी गयी हो। जिसका जीनेके साथ सम्वन्ध नही, उसे मरना ही तो कहेगे? हिन्दुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पचीस सालतक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धधा सीखनेमे ही दिन चले जाते है, तव नया काम-धन्धा शुरू होता है। इससे उमग और महत्त्वके वर्ष व्यर्थ चले जाते है। जो उत्साह, जो उमग जनसेवामे खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यो ही व्यर्थ चला जाता है। जीवन कोई खेल नही है। पर दु खकी वात है कि जीवनका पहला अमूल्य अश तो जीवनका काम-धन्धा खोजनेमे ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्मकी युक्ति निकाली है।

१९ चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दे, तो भी सभी राष्ट्रोमे सर्वत्र, यह व्यवस्था नही है वहाँ भी, स्वधर्म सवको प्राप्त ही है। हम सव इस

किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जनमे है, इसीलिए स्वधर्माचरणरूपी कर्तव्य स्वत ही हमे प्राप्त रहता है। अत जो दूरवर्ती कर्तव्य है—जिन्हे वास्तवमे कर्तव्य कहना ठीक नही—वे कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करने चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते है। मनुष्य दूरकी बातोपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहाँ खडा है, वहाँ भी गहरा कुहरा फैला रहता है, परन्तु पासका घना कुहरा उसे नही दीखता। वह दूर अँगुली दिखाकर कहता है—"वहाँ बडा कुहरा फैला है।" उधरका मनुष्य इसकी ओर अँगुली बताकर कहता है—"उधर घना कुहरा है।" कुहरा सब जगह है, परन्तु पासका दिखाई नही देता। मनुष्यको दूरका आकर्षण रहता है। निकटका कोनेमे पडा रहता है और दूरका स्वप्नमे दीखता है। परन्तु यह मोह है। इसे छोडना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त हो, नीरस लगता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है, वही अच्छा है। वही मेरे लिए सुन्दर है। जो मनुष्य समुद्रमे डूब रहा हो, उसे कोई टेढा-मेढा और भद्दा-सा लकडीका टुकडा मिले, पॉलिश किया हुआ चिकना और सुन्दर न मिले, तो भी वही तारनेवाला है। बढईके कारखानेमे बहुतसे बढिया चिकने और बेल-बूटेदार टुकडे पडे होगे, परन्तु वे तो है कारखानेमे और वह यहाँ समुद्रमे डूब रहा है। अतएव वह बेढगा लकडीका टुकडा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड लेना चाहिए। इसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गयी है, वह गौण मालूम होनेपर भी मेरे कामकी है। उसीमे मग्न हो जाना मुझे शोभा देता है। उसीमे मेरा उद्धार है। यदि मै दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमे पडूँगा, तो पहली सेवा भी जायगी और दूसरी भी। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे ही दूर भटक जाता है। अत स्वधर्मरूप कर्तव्यमे ही मग्न रहना चाहिए।

२० जब हम स्वधर्ममे मग्न रहने लगते है, तो रजोगुण फीका पड जाता है, क्योकि तब चित्त एकाग्र होता है। वह स्वधर्म छोडकर कही जाता ही नही, इससे चचल रजोगुणका सारा जोर ही ढीला पड जाता है। नदी जब शान्त और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमे बढ आये, तो भी वह उसे अपने पेटमे समा लेती है। इसी तरह स्वधर्मरूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा ले सकती है। स्वधर्ममे जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी कम ही है। स्वधर्ममे आप शक्ति-सर्वस्व लगा देगे, तो फिर रजोगुणकी दौड-धूपवाली वृत्ति समाप्त हो जायगी। मानो चचलताका डक ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको जीतनेकी।

८०. सत्त्वगुण और उसका उपाय

२१ अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत सँभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें? बडे सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्वगुणको पूर्णत निर्मूल नही करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पडता है। परतु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड इकट्ठी हो गयी हो और उसे तितर-बितर करना हो, तो सिपाहियोको हुक्म दिया जाता है कि कमरके ऊपर नही, पाँवकी तरफ गोलियाँ चलाओ। इससे मनुष्य मरता नही, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नही डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरार कायम है, तबतक हमे किसी-न-किसी भूमिकामे रहना ही पडेगा। तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा, उससे अलग रहनेका अर्थ क्या है?

जब सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खीच लाता है। लालटेनका प्रकाश स्वच्छ रूपमे बाहर फैलाना हो तो उसके अन्दरका सारा काजल पोछ ही देना पडता है। परन्तु कॉचपर धूल जम गयी हो, तो वह भी धो डालनी पडती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुणरूपी काजल जमा रहता है, उसे अच्छी तरह दूर करना ही चाहिए। उसके बाद रजोगुणरूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुण धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला, तो अब सत्त्वगुण-रूपी काँच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह है कि हम कॉचको भी फोड डाले? नही। यदि काँच ही फोड डालेगे तो फिर प्रकाशका कार्य नही होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए तो कॉच तो चाहिए ही। अत इस शुद्ध चमकदार काँचको फोडे तो नही, परन्तु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकडा उसके सामने जरूर लगा दे, जिससे आँखे चकाचौध न हो जायँ। जरूरत सिर्फ आँखोको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुणपर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान, हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुणसे काम तो लेना है, परन्तु सावधानीसे और युक्तिसे। सत्त्व-गुणको निरहकारी बना देना चाहिए।

२२ इस सत्त्वगुणके अहकारको जीता कैसे जाय? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुणको हम अपने अन्दर स्थिर कर ले। सातत्यसे उसका अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुणयुक्त कर्मोको ही हम सतत करते रहे। उसे अपना स्वभाव ही बना ले। सत्त्वगुण हमारे यहाँ घडीभरके लिए आया हुआ मेहमान ही न

रहे, बल्कि वह घरका आदमी बन जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमे अभिमान होता है। हम रोज सोते है, परन्तु उसको दूसरोसे कहते नही फिरते। लेकिन किसी बीमारको पद्रह दिन नीद न आयी हो और फिर जरा-सी नीद आ जाय, तो वह सबसे कहता है—"कल तो भाई थोडी नीद आयी।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वास-क्रियाका ले सकते है। साँस हम चौबीसो घटे लेते है, परन्तु हर किसीसे उसका जिक्र नही करते। कोई यह डीग नही मारता कि "मै एक साँस लेनेवाला प्राणी हूँ।" हरद्वारसे गगामे फेका तिनका यदि बहता-बहता डेढ हजार मील दूर कलकत्तामे पहुँच जाय, तो क्या वह उसपर गर्व करेगा ? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे बहता चला आया। परन्तु यदि कोई बाढकी उलटी धारामे दस-बीस हाथ तैर आया, तो वह कितनी शेखी बघारेगा! साराश यह कि जो बात स्वाभाविक है, उसका हमे अहकार नही होता।

२३ कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है, तो हमे उसका अभिमान मालूम होता है। क्यो ? इसलिए कि वह बात सहज-रूपसे नही हुई। मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो जाय, तो माँ उसकी पीठपर हाथ फेरती है। वरना यो तो माँकी छडीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेट होती है। रातके घने अध-कारमे एकआध जुगनू हो, तो फिर देखिये उसकी ऐठ! वह एकबारगी अपनी सारी चमक नही दिखाता। बीचमे लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। वह प्रकाशकी आँखमिचौनी खेलता है। परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे, तो फिर उसकी ऐठ नही रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नही होती। इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओमे सतत प्रकट होने लगे, तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिहको अपने शौर्यका अभिमान नही रहता, उसे उसका भान भी नही रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हम सात्त्विक है, इसकी स्मृति भी हमे न होने पाये। प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नही रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय, तो वह कहेगा—"इसमे मैने विशेष क्या किया ? मै प्रकाश देता हूँ, तो अधिक क्या करता हूँ ? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दूँ, तो मै मर जाऊँगा। मै दूसरी कोई चीज ही नही जानता।" ऐसी ही स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सत्त्वगुणका ऐसा स्वभाव ही बन जाय, तो हमे उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी, उसे जीतनेकी यह एक युक्ति हुई।

२४ दूसरी युक्ति है, सत्त्वगुणकी आसक्ति भी छोड देना। अहङ्कार और आसक्ति, ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। यह भेद जरा सूक्ष्म हे। दृष्टातसे जल्दी ममझमे आ जायगा। सत्त्वगुणका अहङ्कार चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण ले। साँस लेनेका अभिमान तो नही होता, परन्तु उसमे वडी आमक्ति रहती है। यदि कहो कि पॉच मिनट-तक सॉस रोके रहो, तो नही वनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परन्तु वह हवा वरावर लेती रहती हे। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अत लोग उसे देखकर हँमा करते। परन्तु हँसोड सुकरात कहता—'मेरी ही नाक सुन्दर है। जिस नाकके नासापुट वडे हो, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सवसे सुन्दर हे।" तात्पर्य यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नही, पर आसक्ति हे। सत्त्वगुणके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यन्त उपयोगी हे, परन्तु उसकी आसक्तिसे दूर रह सके, ऐसा सधना चाहिए। भूत-दया आवश्यक है, परन्तु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

सत लोग इस सत्त्वगुणकी ही वदौलत दूसरोके मार्गदर्शक वनते है। उनकी देह भूत-दयाके कारण सार्वजनिक हो जाती है। मक्खियाँ जिस प्रकार गुडकी भेलीको ढॉक लेती है, उसी प्रकार सारी दुनिया सतोपर अपने प्रेमकी चादर ओढाती है। सतोंके अदर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। सत अपनी देहकी आसक्ति छोड देते है, अत सारे ससारकी आसक्ति उनपर हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिन्ता करने लगती है। परन्तु यह आसक्ति भी सतोको दूर करनी चाहिए। यह जो ससारका प्रेम है, यह महान् फल है, उससे भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मै कोई विशेष व्यक्ति हूँ—ऐसा उन्हे कभी न लगना चाहिए। इस तरह सत्त्व-गुणको शरीरमे पचा डालना चाहिए।

२५ पहले अहकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहकार जीत सकते है। फलासक्तिको छोडकर सत्त्वगुणसे प्राप्त फलको भी ईश्वरार्पण करने-से आसक्तिपर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवनमे सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है, तव कभी सिद्धिके रूपमे या कभी कीर्तिके रूपमे फल सामने आता है। परन्तु उस फलको भी तुच्छ मानिये। आमका पेड अपना एक भी फल खुद नही खाता। फल कितना ही वढिया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर लगता है। उपभोग-की अपेक्षा त्याग अधिक मधुर है।

२६ धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सारस्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अन्तमे ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोपर उन्होने कलश चढा दिया। उन मधुर फलोको चखनेका उन्हे अधिकार था। परन्तु यदि वे उन्हे चख लेते, तो सब स्वाहा हो जाता। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति' यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना महान् यह त्याग! यह सदैव मेरी आँखोके सामने खडा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरणद्वारा उसके अहकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौपकर उसकी आसक्तिसे छूट जाना चाहिए। तब कह सकते है कि सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त हो गयी।

८१. अन्तिम बात : आत्मज्ञान और भक्तिका आश्रय

२७ अब अन्तिम बात! भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइये, अहकारको जीत लीजिये, फलासक्तिको भी छोड दीजिये, फिर भी जबतक यह शरीर चिपका है, तबतक बीच-बीचमे रज-तमके हमले होते ही रहेगे। थोडी देरके लिए हमे ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोको जीत लिया, तो भी वे फिर-फिर जोर मारेगे। अत सतत जागृत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुसकर जिस तरह बडी खाडियाँ बना लेता है, उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमे प्रविष्ट होकर खाडियाँ बना लेते है। अत जरा भी छिद्र न रहने दीजिये। पक्का इन्तजाम और पहरा रखिये। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिये, जबतक आत्मज्ञान नही हुआ है, आत्मदर्शन नही हो पाया है, तबतक खतरा ही समझिये। अत जैसे भी हो, आत्मज्ञान प्राप्त कर लीजिये।

२८ आत्मज्ञान कोरी जागृतिकी कसरतसे नही होगा। तो फिर होगा कैसे? क्या अभ्याससे? नही, उसका एक ही उपाय है। वह है-'सच्चे हृदयसे, प्रेमपूर्वक भगवान्‌की भक्ति करना।' आप रज और तम गुणोको जीतेंगे, सत्त्व-गुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी जीत लेंगे, परन्तु इतनेसे भी काम नही चलेगा। जबतक आत्मज्ञान नही हुआ है, तबतक काम चलनेवाला नही। अत अन्तमे भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपा-का पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नही दिखाई देता। इस अध्यायके अन्तमे अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है और भगवान्‌ने उत्तर दिया है-"अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है, वह मायाके उस पार जा सकता है, नही तो इस गहन मायाको तरा नही जा सकता।" यह भक्तिका सरल उपाय है। उसके लिए यह एक ही मार्ग है।

रविवार, २२-५-'३२

पूर्णयोग : सर्वत्र पुरुषोत्तम-दर्शन

८२. प्रयत्न-मार्गमे भक्ति भिन्न नही

१ आज एक अर्थमे हम गीताके छोरपर आ पहुँचे है। पन्द्रहवे अध्यायमे सब विचारोकी परिपूर्णता हो गयी हे। सोलहवाँ और सत्रहवाँ अध्याय परिशिष्टरूप है, अठारहवाँ उपसहार है। यही कारण है कि भगवान्ने इस अध्यायके अन्तमे इसे 'शास्त्र' सज्ञा दी हे।

इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्त मयाऽनघ।

ऐसा अन्तमे भगवान्ने कहा है। यह इसलिए नही कि यह अतिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धात बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमे की गयी हे। इस अध्यायमे परमार्थ पूरा हो गया। वेदोका सम्पूर्ण सार इसमे आ गया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमे उत्पन्न कर देना ही वेदोका कार्य है। वह इस अध्यायमे किया गया है, अत इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली हे।

तेरहवे अध्यायमे हमने देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेमे तत्सम्बन्धी प्रयत्नवादकी थोडी छानबीन की। रजोगुण और तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करे, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत ले, उसके फलका त्याग करे–इस तरह यह प्रयत्न करना है। अन्तमे कहा गया कि इन प्रयत्नोके सोलहो आने सफल होनेके लिए आत्मज्ञानकी आवश्यकता है और बिना भक्तिके आत्मज्ञान सभव नही।

२ परन्तु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नही है। यही सूचित करनेके लिए इस पन्द्रहवे अध्यायके आरम्भमे ही ससारको एक महान् वृक्षकी उपमा दी गयी है। इस वृक्षमे त्रिगुणोसे पोषित प्रचड शाखाएँ फूटी है। आरम्भमे ही यह कह दिया है कि अनासक्ति और वैराग्यरूपी शस्त्रोसे इस वृक्षको काटना चाहिए। स्पष्ट है कि पिछले अध्यायमे जो साधन-मार्ग बताया गया हे, वही फिर यहाँ आरभमे दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना और सत्त्वगुणकी

पुष्टिद्वारा अपना विकास कर लेना है। एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना और बीज बोना—दोनो एक ही क्रियाके दो अग है। वैसी ही यह बात है।

३ रामायणमे रावण, कुभकर्ण और विभीषण, ये तीन भाई है। कुभकर्ण तमोगुण है, रावण रजोगुण है, विभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीरमे इन तीनोकी रामायण रची जा रही है। इस रामायणमे रावण और कुभकर्णका तो नाश ही विहित है। रहा केवल विभीषण-तत्त्व। यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय, तो उन्नतिका साधक और पोषक हो सकेगा। इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवे अध्यायमे इस चीजको समझ लिया है। इस पद्रहवे अध्यायके आरभमे फिर वही बात आयी है। सत्त्व-रज-तमसे भरे ससारको असगरूपी शस्त्रसे छेद डालो। रज-तमका निरोध करो। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र बनो और उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमलका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है।

४ भारतीय सस्कृतिमे जीवनकी आदर्श वस्तुओको, उत्तमोत्तम वस्तुओको कमलकी उपमा दी गयी है। कमल भारतीय सस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ और पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता और अलिप्तता, ऐसी दुहरी शक्ति कमलमे है। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न अवयवोको कमलकी उपमा देते है। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिर-कमल आदि उपमाओके द्वारा यह भाव हमारे मनमे बैठा दिया है कि सर्वत्र सौंदर्य और पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

५ पिछले अध्यायमे बतायी साधनाको पूर्णतापर पहुँचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमे जब आत्म-ज्ञान और भक्ति मिल जाय, तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान और भक्ति उसी साधनाके अग है। वेदोमे ऋषि कहते है–

यो जागार त ऋच कामयन्ते,
यो जागार तमु सामानि यन्ति।

'जो जागृत रहता है, उससे वेद प्रेम करते है, उससे भेट करनेके लिए वे आते है।' अर्थात् जो जागृत है, उसके पास वेदनारायण आते है। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान और भक्ति पृथक् नही है। इस अध्यायमे यही दिखाना है कि ये दोनो तत्त्व प्रयत्नमे ही मधुरता लानेवाले है। अत एकाग्रचित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिये।

८३. भक्तिसे प्रयत्न सुकर होता है

६ मै जीवनके टुकडे नही कर सकता। कर्म, ज्ञान और भक्तिको मै पृथक्-पृथक् नही कर सकता, न ये पृथक् हैं ही। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोईके कामको ही देखिये। पाँच-सात सौ मनुष्योकी रसोई वनानेका काम अपनेमेसे कुछ लोग करते है। यदि इनमे कोई ऐसा मनुष्य हो, जो रसोई वनानेका ठीक-ठीक ज्ञान न रखता हो, तो वह रसोई विगाड देगा। रोटियाँ कच्ची रह जायँगी या जल जायँगी। परन्तु यहाँ हम यह मानकर चले कि रसोई वनानेका उत्तम ज्ञान हे, फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमे उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, 'ये रोटियाँ मेरे भाइयोको अर्थात् नारायणको ही मिलनेवाली है, इन्हे अच्छी तरह वेलना और सेकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है'—ऐसा भाव उसके हृदयमे न हो, तो पूर्वोक्त ज्ञान रहनेपर भी वह इस कामके लिए उपयुक्त नही सिद्ध होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस हृदयमे न हो, तो रसोई स्वादिष्ट नही वन सकती। इसीलिए तो विना माँके यह काम नही होता है। माँके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेम-भावसे करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये विना, कष्ट उठाये विना यह काम होगा कैसे? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल वनानेके लिए प्रेम, ज्ञान और कर्म—तीनो चीजोकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोपर खडे है। तिपाईका यदि एक पाँव भी टूट जाय, तो वह खडी नही रह सकती। तीनो पाँव चाहिए। उसके नाममे ही उसका रूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति और कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य, ये जीवनके तीन पाँव है। इन तीनो खभोपर जीवनरूपी द्वारका खडी करनी है। ये तीन पाँव मिलाकर एक ही वस्तु वनती है। इसपर तिपाईका दृष्टात अक्षरश लागू होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान और कर्मको पृथक् मानिये, परन्तु प्रत्यक्ष रूपमे इन्हे पृथक् नही किया जा सकता। तीनो मिलकर एक ही विशाल वस्तु वनती है।

७ ऐसा होनेपर भी यह वात नही कि भक्तिमे विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममे जव भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ लगेगा। 'सुलभ लगने' का अर्थ यह नही कि कष्ट होगे ही नही। उसका अर्थ यही है कि वे कष्ट 'कष्ट' नही मालूम होगे, उलटे आनदरूप मालूम होगे। शूल फूल जैसे प्रतीत होगे। भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी क्या है? यही कि भक्ति-भावके

कारण कर्मका बोझ नही मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसामसीह एक जगह कहते है—"यदि तू उपवास करता है, तो चेहरेपर उपवासके चिह्न न दिखने चाहिए, बल्कि गालोपर सुगन्धित पदार्थ लगे हो, ऐसा चेहरा प्रफुल्लित और आनन्दित दीखना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा न दिखना चाहिए।" साराश यह कि वृत्ति इतनी भक्तिमय हो कि कष्ट भूल जायँ। हम कहते है न कि 'फलॉ बहादुर, देशभक्त हँसते-हँसते फॉसीपर चढ गया।' सुधन्वा तेलकी कढाईमे हँस रहा था। मुँहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंदकी ध्वनि निकल रही थी।' इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पडनेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानीपर पडी हुई नावको धकेलना कठिन नही है, परन्तु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोपरसे खीचकर ले जाना हो, तो कितनी मेहनत पडेगी। नावके नीचे यदि पानी होगा, तो हम सहज ही तर जायँगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्तिरूपी पानी होगा, तो वह आनन्दसे खेयी जा सकेगी। परन्तु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमे रेत पडी होगी, ककड-पत्थर होगे, खाई-खड्ड होगे, तो इस नौकाको खीचकर ले जाना बडा कठिन काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामे सुलभता आ जाती है, परन्तु आत्मज्ञानके बिना सदाके लिए त्रिगुणोके उस पार जानेकी आशा नही। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्वगुणको आत्मसात् करके उसका अहकार और भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्ति जीतनेका प्रयत्न। इस साधनाके द्वारा सतत, अखड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्मदर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अत नही आ सकता। यह परम पुरुषार्थकी बात है। आत्मदर्शन कोई हँसी-खेल नही है। रास्ता चलते यो ही आत्मदर्शन हो जायगा, ऐसा नही है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गमे शर्त ही यह है कि "मै निराशाको तिलमात्र जगह न दूँ। क्षण-भर भी मै निराश होकर न बैठूँ।" इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नही है। कभी-कभी साधक थक जाता है और कहने लगता है—

तुव कारन तप सयम किरिया
कहो कहाँ लौं कीजै।

'भगवन्, मै तुम्हारे लिए कहाँतक तप करता रहूँ?' परन्तु यह कहना गौण है। तप और सयमका हम इतना अभ्यास कर ले कि वे हमारा स्वभाव

ही बन जायँ। 'कहाँतक साधन करते रहे ?'—यह भाषा भक्तिमार्गमे शोभा नही देती। भक्ति कभी भी अधीरभाव, निराशाभाव पैदा नही होने देती। जी ऊबने जैसी कोई बात उसमे न होनी चाहिए। भक्तिमे उत्तरोत्तर उल्लास और उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत सुन्दर विचार इस अध्यायमे बताया गया है।

८४. सेवाकी त्रिपुटि : सेव्य, सेवक, सेवा-साधन

८ इस विश्वमे हमे अनन्त वस्तुएँ दिखाई देती है। इनके तीन भाग करे। जब कोई भक्त सुबह उठता है, तो तीन ही चीजे उसकी आँखोके सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवान्‌की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मै सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी—ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। फूल, गध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजें हैं—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा और सेवा-साधनके रूपमे यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमे दी गयी है। परन्तु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है, उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नही मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोडकर लाता है, कहीसे अगरबत्ती ले आता है, कुछ नैवेद्य चढाता है। वह चुनकर छाँटकर ही चीजे लेना चाहता है, परन्तु पन्द्रहवें अध्यायमे जो विशाल सीख दी गयी है, उसमे यह चुनाव करनेकी जरूरत नही है। जो कुछ भी तपस्याके साधन है, कर्मके साधन है, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन है। उनमेसे कुछको हम फूल कहेगे, कुछको गध और कुछको नैवेद्य। इस तरह जितने भी कर्म है, उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस, ससारमे सिर्फ ये तीन ही चीजे है। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेसे कर्मत्व हटा रही है और उसमे सुलभता ला रही है।

९ आश्रममे जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पडता है, तब उसके मनमे यह विचार ही कभी नही आता—"मै ही क्यो ज्यादा काम करूँ ?" इस बातमे बडा सार है। पूजा करनेवालेको यदि दोकी जगह चार घटे पूजा करनेको मिले, तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—"अरे राम, आज तो चार घटा पूजा करनी पडी !" बल्कि उससे उसे अधिक ही आनन्द मालूम होगा। आश्रममे ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमे जीवनमे सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके

लिए सदैव तत्पर मै अक्षर पुरुष हूँ। 'अक्षर-पुरुष' का अर्थ है, कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरम्भसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान् रामके सामने सदैव हाथ जोडकर खडे ही है। उन्हे आलस्य छूतक नही गया है। हनुमान्की तरह ही चिरजीव यह सेवक तत्पर खडा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम अक्षर-पुरुष है। 'परमात्मा' यह सस्था जीवित है और मै उसका 'सेवक' भी सदैव कायम हूँ। प्रभु कायम है, तो मै भी कायम हूँ। देखे, वह सेवा लेते हुए थकता है या मै सेवा करते हुए ? यदि उसने दस अवतार लिये है, तो मेरे भी दस अवतार हुए है। वह राम हुआ तो मै हनुमान्, वह कृष्ण हुआ तो मै उद्धव। जितने उसके अवतार, उतने मेरे भी। लगने दो ऐसी मीठी होड। परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव अक्षर-पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी और मै उसका बदा, सेवक। यह भावना सतत हृदयमे रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनन्त रूपोसे सजनेवाली सृष्टि, इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

१० सेव्य परमात्मा पुरुषोत्तम, सेवक जीव अक्षर-पुरुष, परन्तु यह साधनरूप सृष्टि क्षर है। इसके 'क्षर' होनेमे बडा अर्थ है। सृष्टिका यह दूपण नही, भूपण है। इससे सृष्टिमे नित्य-नवीनता है। कलके फूल आज काम नहीं दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशवान् है, यह बडे भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मै शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूँगा। अपने साधनोको मै नित्य नवीन रूप दूँगा और उन्हीसे उनकी पूजा करूँगा। इस नश्वरताके कारण यह सौन्दर्य है।

११ चन्द्रकी कला जो आज है वह कल नही। चन्द्रका नित्य निराला लावण्य है, दूजके उस वर्धमान चद्रको देखकर कितना आनद होता है। शकरके ललाटपर उस द्वितीयाके चन्द्रकी शोभा प्रकट है। अष्टमीके चन्द्रमाका सौदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमे चुने-चुने मोती ही दिखाई देते है। पूर्णिमाको चन्द्रमाके तेजसे तारे नही दीखते। पूर्णिमाको परमेश्वरका मुख-चन्द्र दीखता है। अमावास्याका आनन्द तो बडा गभीर होता है। उस रात्रिमे कितनी निस्तब्ध शाति छायी रहती है। चन्द्रमाके सर्वग्रासी प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बडे अगणित तारे पूरी आजादीसे खुलकर जगमगाते रहते है। अमावास्याकी रातमे स्वतत्रता पूर्ण रूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान दिखानेवाला चन्द्रमा आज वहाँ नही है। अपने प्रकाश-दाता सूर्यसे वह आज एकरूप

हो गया है। वह परमेश्वरमे मिल गया। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह ससारको जरा भी दुःख न पहुँचाये। चद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न रूपमे आनद देता है।

१२ सृष्टिकी जो नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छल-छल वह रहा है। यह रूप-गगा यदि वहती न रहे, तो उसका एक डवरा वन जायगा। नदीका पानी अखड रूपसे वहता रहता है। वह सतत वदलता रहता है। एक वूँद गयी, दूसरी आयी। वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमे जो आनद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके कारण। ग्रीष्म ऋतुमे परमात्माको और तरहके फूल चढाये जाते हैं। वर्षा ऋतुमे हरी-हरी दूव चढायी जाती है। शरद् ऋतुमे सुरम्य कमलके पुष्प चढाते है। तत्तत् ऋतुकालोद्भव फलपुष्पोसे भगवान्‌की पूजा की जाती है। इसीसे वह पूजा शुभ और नित्य नूतन प्रतीत होती है। उससे जी नही ऊवता। छोटे वच्चेको जव 'क' लिखकर कहते है कि "इसपर हाथ फेरो, इसे मोटा वनाओ" तो यह क्रिया उसे उवा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नही पाता कि इसे मोटा क्यो वनाया जाता है। वह पेसिल आडी करके उसे जल्दी मोटा वना देता है। परन्तु आगे चलकर वह नये अक्षरोको, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तके पढने लगता है। साहित्यिक नानाविध सुमन-मालाका अनुभव उसे होता है, तव उसे अपार आनद मालूम होता है। यही वात सेवा-प्रातकी है। साधनोकी नित्य नवीनतासे सेवाकी उमग वढती है। सेवा-वृत्तिका विकास होता है।

सृष्टिकी यह नश्वरता नित्य नये पुष्प खिला रही है। गाँवके निकट श्मशान है, इसीमे गाँव रमणीक मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे है, नये वालक जन्म ले रहे है। सृष्टि नित्य नवीन वढ रही है। वाहरका वह श्मशान यदि मिटा दोगे, तो वह घरमे आकर वैठ जायगा। तुम ऊव उठोगे उन्ही-उन्ही व्यक्तियोको रोज-रोज देखकर। गर्मियोमे गर्मी पडती है, पृथ्वी तपती है, परन्तु इससे तुम घवराओ नही। यह रूप वदल जायगा। वर्षाका सुख लेनेके लिए यह तपन आवश्यक है। यदि जमीन खूव तपी न होगी, तो पानी वरसते ही कीचड हो जायगा। फिर तृण-धान्य उसमे नही खिल पायेगे।

मै एक वार गर्मियोमे घूम रहा था। सिर तप रहा था। वडा आनद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा—"सिर गरम हो जायगा, तो तकलीफ होगी।" मैने कहा—"नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी जरा तपने दो।" सिर तपा हुआ हो, उसपर पानीकी फुहारे पडने लगे—तो कितना आनद होता

है। परन्तु जो गर्मियोमे तपता नही, वह पानी वरसनेपर भी अपनी पुस्तकमे सिर घुसाकर वैठा रहेगा। अपने कमरेमे, उस कब्रमे ही घुसा रहेगा। वाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खडा रहकर आनदसे नाचेगा नही, परन्तु हमारे वे महर्षि मनु वडे रसिक और सृष्टि-प्रेमी थे। वे स्मृतिमे लिखते है–"जव पानी वरसने लगे, तो छुट्टी कर दो।" जव वर्षा हो रही हो, तो क्या आश्रममे वैठे पाठ घोखते रहे ? वर्षामे तो नाचना-गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूपता स्थापित करनी चाहिए। वर्षामे पृथ्वी और आकाश एक-दूसरेसे मिलते है। यह भव्य दृश्य कितना आनददायी होता है। यह सृष्टि स्वय हमे शिक्षा दे रही है।

साराश, सृष्टिकी क्षरता, नश्वरताका अर्थ है, साधनोकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसकर सेवाके लिए खडा सनातन सेवक और वह सेव्य परमात्मा। अव चलने दो खेल। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेममूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खेला रहा है। मुझसे तरह-तरहके प्रयोग करा रहा है। यदि हमे जीवनमे ऐसी दृष्टि आ जाय, तो कितना आनन्द मिले।

८५ अहं-शून्य सेवाका ही अर्थ भक्ति

१३ गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घडी, आध-घड़ी ईश्वरकी पूजा करते हैं, सो तो ठीक ही है। सुवह-शाम जव सुन्दर सूर्य-प्रभा अपना रग छिटकाती हैं, तव चित्तको स्थिर करके घटा, आध घटा ससारको भूल जाना और अनन्तका चिन्तन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोड़ना चाहिए। परन्तु गीताको इतनेसे सतोष नही है। सुवहसे शामतककी सारी क्रियाएँ भगवान्‌की पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, सफाई करते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाडते समय यह भावना होनी चाहिए कि मै अपने प्रभु, अपने जीवन-देवका आँगन साफ कर रहा हूँ। हमारे समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ जाय तो फिर देखियेगा, आपके व्यवहारमे कितना अन्तर पड जाता है। हम कितनी सावधानीसे पूजाके लिए फूल चुनते है, उन्हे जतनसे डलियामे सँभालकर रखते हैं। वे दव न जायँ, कुचल न जायँ, कुम्हला न जायँ, इसका कितना ध्यान रखते हैं। कही मलिन न हो जायँ, इस ख्यालसे उन्हे नाकके पास नही ले जाते। यही दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोमे आ जानी चाहिए। अपने इस गाँवमे मेरे पडोसीके रूपमे मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो निवास करता है। इस गाँवको मै साफ-सुथरा, निर्मल रखूंगा। गीता हमे यह

दृष्टि देना चाहती है। हमारे सभी कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायँ, इस वातका गीताको वडा शौक है। गीता जैसे ग्रन्थराजको घडी, आधघडीकी पूजासे समाधान नही। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजारूप होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

१४ गीता पुरुषोत्तम-योग वताकर कर्ममय जीवनको पूर्णतापर पहुँचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मै उसका सेवक और सेवाके साधनरूप यह सारी सृष्टि—यदि इस वातका दर्शन हमे एक वार हो जाय, तो फिर और क्या चाहिए ? तुकाराम कह रहे है—

> झालिया दर्शन करीन मी सेवा।
> आणिक काहीं देवा न न्गे दुजें॥

—"दर्शन हो जानेपर तेरी सेवा करूँगा। मुझे और कुछ नही चाहिए प्रभो।"

फिर तो अखड सेवा ही होती रहेगी। तव 'मै' जैसा कुछ रहेगा ही नही। मै-मेरापन सब मिट जायगा। जो होगा सव परमात्माके लिए। पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नही रहेगा। गीता वार-वार यही कह रही है कि मै अपनेपनमेसे मै-पनको निकालकर हरिपरायण जीवन वनाऊँ, भक्तिमय जीवन रचूँ। सेव्य परमात्मा, मै सेवक और साधनरूप यह सृष्टि! परिग्रहका नाम ही कहाँ रहा ? जीवनमे अव किसी वातकी चिता ही नही रही।

८६. ज्ञान-लक्षण : मै पुरुष, वह पुरुष, यह भी पुरुष

१५ अवतक हमने देखा कि इस तरह कर्ममे भक्तिका योग करना चाहिए, परन्तु उसमे ज्ञान भी चाहिए, अन्यथा गीताको सतोप न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि ये तीनो चीजे भिन्न-भिन्न है, केवल वोलनेके लिए हम भिन्न-भिन्न भाषा वोलते है। कर्मका अर्थ ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममे मिलानी नही पडती। यही वात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे ? गीता कहती है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे।" तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा-पुरुष वह पुरुपोत्तम सेव्य पुरुष और नानारूपधारिणी, नानासाधन-दायिनी, प्रवाहमयी यह सृष्टि, यह भी पुरुष ही।

१६ ऐसी दृष्टि रखनेका अर्थ क्या ? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवाभाव रखना। तुम्हारे पैरकी चप्पल चर्र-चूँ वोल रही हे, जरा उसे तेल दे दो। उसमे भी परमात्माका ही अश है, अत उसे सँभालकर रखो। यह सेवाका साधन चरखा, इसमे भी तेल डालो। देखो, यह आवाज दे रहा हे। 'नेति-

नेति'–'सूत नही कातूँगा'–कहता है। यह चरखा–यह सेवा—साधन भी पुरुष ही है। इसकी माल, इसका यह जनेऊ भली प्रकार रखो। सारी सृष्टिको चैतन्यमय मानो। इसे जड मत समझो। ॐकारका सुन्दर गान करनेवाला यह चरखा क्या जड है? यह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। भाद्रपदकी अमावास्याको हम अहकार छोडकर बैलकी पूजा[1] करते है। वडी भारी बात है यह। रोज अपने मनमे इस उत्सवका ध्यान रख करके, वैलोको अच्छी हालतमे रखकर उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार अच्छी हालतमे रखो। सेवाके सभी साधन पवित्र होते है। कितनी विशाल है यह दृष्टि! पूजा करनेका अर्थ यह नही कि गुलाल, गधाक्षत और फूल चढाये। वरतनोको कॉचकी तरह साफ-सुथरा रखना वरतनोकी पूजा है। दीपकको स्वच्छ करना दीपक-पूजा है। हँसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जग खाये, तो उसे तेल लगाकर सतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमे सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवाद्रव्य उत्कृष्ट और निर्मल रखना चाहिए। साराश यह कि मै अक्षर-पुरुष, वह पुरुषोत्तम और साधनरूप यह सृष्टि, वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही। सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है-जब यह दृष्टि आ गयी, तो समझ लो कि हमारे कर्ममे ज्ञान भी आ गया।

१७ पहले कर्ममे भक्तिका पुट दिया, अब ज्ञानका भी योग कर दिया, तो जीवनका एक दिव्य रसायन बन गया। गीताने हमे अतमे अद्वैतमय सेवाके रास्तेपर लाकर छोड दिया। इस सारी सृष्टिमे जहाँ देखिये, तीन पुरुष विद्यमान है। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये है। तीनोको मिलाकर वास्तवमे एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहाँ गीताने हमे सबसे ऊँचे शिखरपर लाकर छोड दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, सब एकरूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि, सव एकरूप हो गये। कर्म, भक्ति और ज्ञानमे कोई विरोध नही रह गया।

१८ ज्ञानदेवने, 'अमृतानुभव' मे महाराष्ट्रका प्रिय दृष्टात दिया है–

> देव देऊळपरिवारु। कोजे कोरूनि डोंगरु।
> तैसा भक्तीचा वेव्हारु। का न होआवा॥

—"पर्वत कुरेदकर देव, मन्दिर आदि परिवार वनाया, भक्तिका भी ऐसा आचार क्यो न हो?"

---

[1] महाराष्ट्रका विशिष्ट त्योहार, जिसे 'पोळा' कहा जाता है।

एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मंदिर, उस मंदिरमें पत्थरकी गढी हुई भगवान्‌की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फल, ये सब जैसे एक ही पत्थरकी चट्टान खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही अखंड पत्थर अनेक रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यों न होना चाहिए? स्वामिसेवक-सम्बन्ध रहकर भी एकता क्यों नहीं हो सकती? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य पृथक् होते हुए भी आत्मरूप क्यों न बन जायँ? तीनों पुरुष एक ही तो हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति, इन तीनोंको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय, ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक और सेवा-द्रव्य सब एकरूप ही हैं, अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

१९ ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अंकित हो जाय, वही सच्ची भक्ति करता है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहों आना भक्त रहता है। जिसमें ज्ञान है, उसमें प्रेम तो है ही। परमेश्वरका ज्ञान और परमेश्वरका प्रेम, ये दो अलग चीजें नहीं हैं। 'करैला कड़ुआ है'—ऐसा ज्ञान हो, तो उसके प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न होता। एकआध अपवाद हो सकता है, पर जहाँ कड़ुएपनका अनुभव हुआ कि जी ऊबा। पर मिश्रीका ज्ञान होते ही प्रेम बहने लगता है। तुरन्त ही प्रेमका स्रोत उमड़ पड़ता है। परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना, दोनों बातें एक ही हैं। परमेश्वरके रूपके माधुर्यकी उपमा क्या शक्करसे दी जाय? उस मधुर परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिये कि ज्ञान होना और प्रेम होना, ये दोनों मानो भिन्न क्रियाएँ ही नहीं हैं। अद्वैतमें भक्तिको स्थान है या नहीं, इस बहसमें कुछ नहीं रखा है। ज्ञानदेव कहते हैं—

हे चि भक्ति हे चि ज्ञान।
एक विठ्ठल चि जाण॥

—'एक विट्ठलको ही जान। वही भक्ति है, वही ज्ञान है।' भक्ति और ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

२० जीवनमें परम भक्तिका संचार हो जानेपर जो कर्म होगा, वह भक्ति और ज्ञानसे अलग नहीं रहता। कर्म, भक्ति और ज्ञान मिलाकर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूपसे अद्‌भुत प्रेममय, ज्ञानमय सेवा सहज

ही उत्पन्न होती है। मॉपर मेरा प्रेम है, किन्तु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता-खपता रहता है, सेवारूपमे व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहाँ आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौन-सी सेवा प्रिय होगी, इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए, नही तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा ही रहेगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्यद्वारा फैलानेके लिए/ज्ञानकी आवश्यकता है, परन्तु उसके मूलमे प्रेम होना चाहिए। वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे भिन्न होता है। खेतसे थके-मॉदे आये लडकेपर माँ सहज प्रेमकी दृष्टि डालती और कहती है—"बेटा, थक गये हो", परन्तु इस छोटे कर्ममे, देखिये तो कितनी सामर्थ्य है। अपने जीवनके समस्त कर्ममे ज्ञान और भक्तिको ओतप्रोत कीजिये। यही पुरुषोत्तम-योग कहलाता है।

८७. सर्व-वेद-सार मेरे ही हाथोमे

२१ यह सब वेदोका सार है। वेद अनन्त है, परन्तु उन अनन्त वेदोका सार-सक्षेप यह पुरुषोत्तम-योग है। वेद है कहाँ ? वेदोकी बात विचित्र है। वेदोका सार है कहाँ ? अध्यायके प्रारम्भमे ही कहा है—**छन्दासि यस्य पर्णानि**—"पत्र है जिसके वेद।" भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमे भरे हुए है। वेद उन सहिताओमे, आपके ग्रन्थो ओर पोथियोमे छिपे हुए नही है। वे विश्वमे सर्वत्र फैले है। शेक्सपियर कहता है—"बहते हुए झरनोमे सद्‌ग्रथ मिलते है, पत्थरो-चट्टानोसे प्रवचन सुनाई पडते है।" साराश यह कि वेद न सस्कृतमे है, न सहिताओमे, वे सृष्टिमे है। सेवा करो तो वे दिखाई देगे।

२२ **प्रभाते करदर्शनम्**—सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथमे है। वह वेद कहता है, "सेवा करो।" कल हाथने काम किया था या नही, आज करने योग्य है या नही, उससे कामके घट्टे पडे है या नही, यह देखिये। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है, तो फिर ब्रह्मलिखित प्रकट होता है, यह अर्थ है 'प्रभाते करदर्शनम्' का।

२३ पूछते है, वेद कहाँ है ? भाई, तुम्हारे पास ही तो है। हमे-तुम्हे तो जन्मत ही वे प्राप्त है। मै खुद ही जीता-जागता वेद हूँ। अबतकको सारी परम्परा मुझमे आत्मसात् हुई है। मै उस परम्पराका फल हूँ। उस वेदबीजका जो फल है, वही तो मै हूँ। अपने फलमे मैने अनन्त वेदोका बीज सचित कर रखा है। मेरे उदरमे वेद पाँच-पचासगुना बडे हो गये।

२४ साराश, वेदोका सार हमारे हाथोमे है। सेवा, प्रेम और ज्ञानकी नीवपर हमे जीवन गढना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोमे है। मै जो अर्थ करूँगा, वही वेद होगा, वेद कही बाहर नही है। सेवामूर्ति सत कहते है—**वेदाचा तो अर्थ आम्हासी च ठावा।**—'वेदोका जो अर्थ है, वह एक हम ही जानते है।' भगवान् कह रहे है—"सारे वेद मुझे ही जानते है। म ही सब वेदोका सत्त्वाश, सार पुरुपोत्तम हूँ।" यह जो वेदोका सार पुरुपोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमे आत्मसात् कर सके, तो कितना आनन्द हो। तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करता है, उसमेसे वेद ही प्रकट होते है, ऐसा गीता सुझाती है। इस अध्यायमे सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमे पूर्ण रूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमे उतारनेका हमे रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या ?

रविवार, २९-५-'३२

परिशिष्ट १

दैवी और आसुरी वृत्तियोंका झगड़ा | १६

८८ पुरुषोत्तम-योगकी पूर्ण प्रभा : दैवी सम्पत्ति

१ गीताके पहले पाँच अध्यायोमे हमने देखा कि जीवनकी सारी योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते है। उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवे अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवे अध्यायमे भक्तिका दर्शन हुआ। बारहवेमे सगुण और निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान् लक्षण देखे। बारहवे अध्यायके अततक कर्म और भक्ति, इन दोनो तत्त्वोकी छानबीन हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसे हमने तेरहवे, चौदहवे और पन्द्रहवे अध्यायोमे देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना और उसके लिए तीनो गुणोको जीतकर अतमे सर्वत्र प्रभुको देखना। पन्द्रहवे अध्यायमे जीवनका सम्पूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुपोत्तम-योगमे जीवनकी पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नही रहता।

२ कर्म, ज्ञान और भक्तिकी पृथकता मुझे सहन नही होती। कुछ साधको-की ऐसी निष्ठा होती है कि उन्हे केवल कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके

स्वतन्त्र मार्गकी कल्पना करते है और उसीपर सारा जोर देते है। कुछ लोगो-का झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवनका अर्थ केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल'-वाद मुझे मजूर नही। इसके विपरीत कर्म, भक्ति और ज्ञानके जोडको, यानी समुच्चय-वादको, भी मै नही मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान और कुछ कर्म, इस तरहका उपयोगिता-वाद भी मुझे नही जँचता। पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान, इस तरहके क्रम-वादको भी मै नही स्वीकारता। तीनो वस्तुओका समन्वय किया जाय, यह सामजस्य-वाद भी मुझे पसन्द नही है। मुझे तो यह अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है, वही भक्ति है, वही ज्ञान है। बर्फीके एक टुकडेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन अलग-अलग नही है। जिस क्षण हम बर्फीका टुकडा मुँहमे डालते है, उसी क्षण उसका आकार भी हम खा लेते है और उसका वजन भी पचा लेते है और उसकी मिठास भी चख लेते है। तीनो बाते मिली-जुली है। बर्फीके प्रत्येक कणमे आकार, वजन और मधुरता है। यह नही कि उसके एक टुकडेमे केवल आकार है, दूसरेमे कोरी मिठास है और तीसरेमे सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामे परमार्थ भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय और ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके अगप्रत्यगमे कर्म, भक्ति और ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे पुरुषोत्तमयोग कहते है। सारे जीवनको केवल परमार्थमय ही बना डालना—यह बात बोलनेमे तो बडी आसान है, परन्तु इस उच्चारणमे जो भाव है, उसका यदि विचार करने लगे, तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अत करणमे शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति और ज्ञान अक्ष-रश एकरूप है, इस परम दशाको 'पुरुषोत्तम-योग' कहते है। यहाँ जीवनकी अन्तिम सीमा आ गयी।

३ अब, आज इस सोलहवे अध्यायमे क्या कहा गया है? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी तरह जीवनमे कर्म, भक्ति और ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्‌गुणोकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभाका वर्णन इस सोलहवे अध्यायमे किया गया है। किस अन्धकारसे झगडकर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमे किया गया है। किसी वस्तुको माननेके लिए हम कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देखना चाहते है। सेवा, भक्ति और ज्ञान हमारे जीवनमे आ गये है, यह कैसे समझा जाय? खेतपर हम मेहनत करते है, तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नापकर घर ले आते है। इसी

तरह हम जो साधना करते है, उससे हमे क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्-वृत्तियाँ गहरी पैठी, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ,—इसकी जाँच करनेकी ओर यह अध्याय सकेत करता है। जीवनकी कला कितनी ऊँची चढी, इसे नापनेके लिए यह अध्याय है। जीवनकी इस वृद्धिमती कलाको गीता 'दैवी-सपत्ति' का नाम देती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियाँ है, उन्हे 'आसुरी' कहा है। सोलहवे अध्यायमे दैवी और आसुरी सपत्तियोका सघर्ष बताया गया है।

८९. अहिंसाकी और हिंसाकी सेना

४ जिस तरह पहले अध्यायमे एक ओर कौरव-सेना और दूसरी ओर पाण्डव-सेना आमने-सामने खडी की है, उसी तरह यहाँ सद्गुणरूपी दैवी-सेना और दुर्गुणरूपी आसुरी-सेना एक-दूसरेके सामने खडी की है। बहुत प्राचीन-कालसे मानवीय मनमे सदसत्-प्रवृत्तियोका जो झगडा चलता है, उसका रूपका-त्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड गयी है। वेदमे इद्र और वृत्र, पुराणोमे देव और दानव, वैसे ही राम और रावण, पारसियोके धर्मग्रथोमे अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमे प्रभु और शैतान, इसलाममे अल्लाह और इब्लीस—इस तरहके झगडे सभी धर्मोमे आते हैं। काव्यमे स्थूल और मोटे विषयोका वर्णन सूक्ष्म वस्तुओके रूपकोके द्वारा किया जाता है, तो धर्मग्रन्थोमे स्थूल मनोभावोका वर्णन उन्हे ठोस स्थूलरूप देकर किया जाता है। काव्यमे सूक्ष्मका सूक्ष्मद्वारा वर्णन किया जाता है, तो यहाँ सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह नहीं सुझाना है कि गीताके आरम्भमे युद्धका जो वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परन्तु कवि यहाँ उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्तव्यके विषयमे जब मनमे मोह पैदा हो जाता है, तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझायी गयी है। इस सोलहवे अध्यायमे भलाई और बुराईका झगडा बताया गया है। गीतामे युद्धका रूपक भी दिया गया है।

५ कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। बारीकीसे देखा जाय, तो जो झगडा हमारे मनमे होता है, वही हमे बाहरी जगत्मे मूर्तिमान् दिखाई देता है। बाहर जो शत्रु खडा है, वह मेरे ही मनका विकार साकार होकर खडा है। दर्पणमे जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमे दिखाई देते हैं।

जैसे हम जागृतिकी ही बातें स्वप्नमे देखते हैं, वैसे ही जो हमारे मनमे है, वही हम वाहर देखते है। भीतरके और वाहरके युद्धमे कोई अन्तर नही है। सच पूछिये, तो असली युद्ध भीतर ही है।

६ हमारे अत करणमे एक ओर सद्‌गुण, तो दूसरी ओर दुर्गुण खडे है। उन्होने अपनी-अपनी व्यूह-रचना व्यवस्थित कर रखी है। सेनामे जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ भी सद्‌गुणोने एक सेनापति वना रखा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमे 'अभय' को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नही है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना अभयके कोई भी गुण पनप नही सकता। सचाईके बिना सद्‌गुणका कोई मूल्य नही है, किन्तु सचाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमे सद्‌गुण फैल नही सकते, उल्टे उसमे वे भी दुर्गुण बन जायेंगे, सत्प्रवृत्तियाँ भी कमजोर पड जायँगी। निर्भयत्व सब सद्‌गुणोका नायक है, परन्तु सेनाको आगा और पीछा, दोनो सँभालना पडता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परन्तु पीछेसे चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्‌गुणोके सामने 'अभय' खम ठोककर खडा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बडी सुन्दर रचना की गयी है। यहाँ कुल छब्बीस गुण वताये गये है। इनमे पचीस गुण प्राप्त हो जायँ और यदि कही उसका अहकार हो जाय, तो पीछेसे एकाएक चोर-हमलेसे सारी कमाई खो जानेका भय है। इसीलिए पीछे 'नम्रता' नामक सद्‌गुण रखा गया है। यदि नम्रता न हो, तो यह 'जय' कब पराजयमे परिणत हो जायगी, इसका पता भी नही चलेगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' और पीछे 'नम्रता' को रखकर सब सद्‌गुणोका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणोके बीच जो चौबीस गुण रखे गये है, वे सब अधिकतर अहिसाके पर्यायवाची है, ऐसा कहा जा सकता है। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शाति, अक्रोध, अहिसा, अद्रोह-ये सब अहिसाके ही दूसरे नाम है। अहिसा और सत्य, इन दो गुणोमे इन सव सद्‌गुणोका समावेश हो जाता है। सव सद्‌गुणोका यदि सक्षेप किया जाय, तो अन्तमे अहिसा और सत्य, ये ही दो वाकी रह जायँगे। शेष सव सद्‌गुण इनके उदरमे समा जायँगे, परन्तु निर्भयता और नम्रताकी बात अलग है। निर्भयतासे प्रगति की जा सकती है और नम्रतासे वचाव होता है। सत्य और अहिसा, इन दो गुणोकी पूंजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमे अनिरुद्ध सचार करते चले जाना चाहिए। पाँव गलत न पड जाय, इसके लिए सदा नम्र रहे, फिर कोई खतरा नही रह

जाता। तव शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे बढ सकते है। तात्पर्य यह कि सत्य और अहिंसाका विकास निर्भयता और नम्रताके द्वारा होता है।

७ एक ओर जहाँ सद्गुणोकी फौज खडी है, वहाँ दूसरी ओर दुर्गुणोकी भी फौज तैयार है। दभ, अज्ञान आदि दुर्गुणोके सवधमे अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है। इनमे हमारा नित्यका परिचय है। दभके तो जैसे हम आदी हो गये है। सारा जीवन ही मानो दभपर खडा किया गया है। अज्ञानके वारेमे कहा जाय, तो वह एक ऐसा मनोहर कारण वन गया है, जिसे हम पग-पगपर आगे कर देते है। मानो अज्ञान कोई वडा गुनाह ही न हो। परन्तु भगवान् कहते है–"अज्ञान पाप है।" सुकरातने इसमे उलटा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमे उसने कहा–"जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके विना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञानको तुम दण्ड कैसे दोगे?" परन्तु भगवान् कहते है–"अज्ञान भी पाप ही है।" कानूनका अज्ञान यह सफाईकी दलील नही हो सकती, ऐसा कानूनमे कहा है। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी वहुत वडा अपराध है। भगवान्के और सुकरातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान् वताते है, तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात वताता है। दूसरेके पापोको क्षमा करना चाहिए, परन्तु अपने अज्ञानको क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान थोडा-सा भी शेप न रहने देना चाहिए।

९०. अहिंसाके विकासकी चार मंजिलें

८ इस तरह एक ओर दैवी सपत्ति और दूसरी ओर आसुरी सपत्ति–ऐसी दो सेनाएँ खडी है। इनमेसे आसुरी सपत्तिको छोडना है और दैवीको पकडना है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोका विकास अनादिकालसे होता आया है। वीचमे जो काल गया, उसमे भी वहुत-कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी विकासके लिए गुजाइश वहुत है। विकासकी मर्यादा समाप्त हो गयी हो, सो वात नही। जवतक हमे सामाजिक शरीर प्राप्त है, तवतक विकासके लिए हमे अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो जाय, फिर भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेप रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासकी खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखो व्यक्तियोके विकासकी शुरुआत करनी होती है। मानवद्वारा अहिंसाका विकास अनादिकालसे हो रहा है, तो भी आज वह विकास-क्रिया जारी ही है।

९ अहिंसाका विकास किस तरह होता आया है, यह देखने लायक है। उससे यह समझमे आ जायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवसर है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोके हमलेसे कैसे बचाव किया जाय। शुरूमे समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय-वर्ग बनाया गया, परन्तु वह आगे चलकर समाज-भक्षण करने लगा। तब अहिंसक ब्राह्मण यह विचार करने लगे कि इन उन्मत्त क्षत्रियोसे समाजका बचाव कैसे किया जाय? परशुरामने स्वय अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलबन किया। वे क्षत्रियोका विनाश करने लगे। क्षत्रिय हिंसा छोड दे, इसलिए वे स्वय हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग था, परन्तु सफल नही हुआ। उन्होने इक्कीस बार क्षत्रियोका सहार किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे, क्योकि यह प्रयोग मूलमे ही गलत था। जिन क्षत्रियोको नष्ट करने वे चले थे, उनमे एक और क्षत्रियकी वृद्धि उन्होने की, तो फिर वह क्षत्रिय-वर्ग नष्ट कैसे होता? वे स्वय ही हिंसक क्षत्रिय बन गये। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर पेडोको काटनेवालेको वे पेड पुन-पुन पैदा हुए ही दीखेगे। परशुराम थे भले आदमी, परन्तु उनका प्रयोग बडा विचित्र हुआ। स्वय क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीको नि क्षत्रिय बनाना चाहते थे। वस्तुत उन्हे अपनेसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हे चाहिए था कि पहले वे अपना ही सिर उडा देते। मै जो यहाँ परशुरामका दोष दिखा रहा हूँ, उसका यह अर्थ नही कि मै उनसे ज्यादा बुद्धिमान् हूँ। मै तो बच्चा हूँ, परन्तु उनके कन्धेपर खडा हूँ, इससे मुझे अनायास ही अधिक दूरका दिखाई देता है। परशुरामके प्रयोगका आधार ही गलत था। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सम्भव नही। इससे उल्टे हिंसकोकी सख्या ही बढती है। परन्तु उस समय यह बात ध्यानमे नही आयी। उस समयके भले-भले आदमियोने, परम अहिंसामय व्यक्तियोने जैसा उन्हे सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होने हिंसा नही की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होने हिंसा की।

१० वह प्रयोग असफल हो गया। बादमे रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोने विचार शुरू किया। उन्होने हिंसा छोड दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वय हिंसा करेगे ही नही। तब राक्षसोके आक्रमणोसे बचाव कैसे हो? उन्होने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो है ही, उन्हीसे राक्षसोका सहार करा डालना चाहिए। काँटेसे काँटा निकाल डालना

चाहिए। हम स्वत दूर रहे। अत विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोका सहार करवाया। आज हम ऐसा सोचते है कि "जो अहिंसा स्वसरक्षित नही है, जिसके अपने पॉव नही है, ऐसी लँगडी-लूली अहिंसा खडी कैसे रहेगी ?" परन्तु वसिष्ठ विश्वामित्र जैसोको क्षत्रियोके बल-पर अपनी रक्षा करा लेनेमे कोई दोष या त्रुटि नही मालूम हुई। परन्तु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो ? विश्वामित्र कहते है—"मै भले ही मर जाऊँ, पर हिसा नही करूँगा।" क्योकि हिंसक बनकर हिसा दूर करनेका प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चय हो ही चुका था कि स्वय अहिंसा नही छोडेगे—यदि कोई क्षत्रिय नही मिला, तो अहिंसक व्यक्ति मर जाना पसन्द करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। अरण्यकाडमे एक प्रसग है। राम पूछते है—"ये ढेर किस चीजके है ?" ऋषि कहते है—"ये ब्राह्मणोकी हड्डियो-के ढेर है। अहिंसक ब्राह्मणोने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसोका प्रतिकार नही किया। वे मर मिटे। उन्हीकी हड्डियोके ये ढेर है।" इस अहिंसामे ब्राह्मणोका त्याग तो था, परन्तु साथ ही दूसरोसे अपने सरक्षणकी अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी कमजोरीसे अहिंसा पूर्णताको नही पहुँच सकती थी।

११ सतोने आगे चलकर तीसरा प्रयोग किया। उन्होने निश्चय किया—"हम अपने बचावके लिए दूसरोकी सहायता कदापि नही लेगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" सन्तोका यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होने पूर्णतातक पहुँचा दिया, परन्तु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाजपर यदि हिंसक लोगोके हमले होते और समाज सतोसे आकर पूछता कि "अब क्या करे ?" तो शायद सत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमे परिपूर्ण अहिंसाका पालन करने-वाले वे सत समाजसे यही कहते—"भाई, हम निर्बल है।" सतोकी यह कमी बताना मेरा बाल-साहस होगा, परन्तु उनके कधेपर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है, वही मै बता रहा हूँ। वे मुझे इसके लिए क्षमा करे और वे कर भी देगे, क्योकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसाके साधनोसे सामूहिक प्रयोग करने-की उन्हे प्रेरणा नही हुई, ऐसा तो कह नही सकते, लेकिन उस समयकी परि-स्थिति उन्हे शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये, परन्तु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोसे शास्त्र बनता है।

१२ सतोके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह

है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनोसे हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए है। प्रत्येक प्रयोगमे अपूर्णता थी और है। विकास-क्रममे यह बात अपरिहार्य ही है। परन्तु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमे भी बहुत-कुछ हिंसाका अश दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेगे। ज्ञान, कर्म और भक्तिका ही नहीं, सभी सद्‌गुणोका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्‌गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है, परन्तु व्यक्ति और समुदायके जीवनमे अभी उनका पूर्ण विकास होना बाकी है। वचनोका भी विकास होता है। ऋषि मन्त्रोके द्रष्टा समझे जाते थे, कर्ता नही, क्योकि उन्हे मन्त्रोका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नही। उन्हे उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमे उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमे कुछ अधिक दीख जाता है, तो यह हमारी विशेषता नही है, क्योकि उन्हीके आधारपर हम आगे बढते हैं। मै यहाँ अहिंसाके ही विकासकी जो बात कर रहा हूँ, वह इसलिए कि यदि हम सब सद्‌गुणोका साधारण रूपसे सार निकाले, तो वह अहिंसा ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमे ही पडे हुए हैं। इस तरह हमने देखा कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

९१ अहिंसाका एक महान् प्रयोग मांसाहार-परित्याग

१३. अबतक हमने अहिंसाका एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकोके हमले हो, तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करे। व्यक्तियोके पारस्परिक झगडोमे अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। किन्तु झगडा तो मनुष्य और पशुओमे भी हो रहा है। मनुष्य अभीतक अपने आपसके झगडे मिटा नही पाया। पशुको पेटमे ठूँसकर वह जी रहा है, अपने झगडे वह अभी-तक मिटा नही पाता, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओ—जीवो—को खाये बिना वह जी नही सकता। हजारो वर्ष जीकर भी किस तरह जीयें, इसका विचार अभीतक मनुष्यने नही किया। मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीना आता नही, परन्तु अब इस बातका भी विकास हो रहा है। आदिमानव शायद कद-मूल-फलाहारी ही होगा। लेकिन बादमे दुर्मतिवश बहुत-सा मानव-समाज मासाहारी बना। जो उत्तम और बुद्धिमान् व्यक्ति थे, उन्हे यह नही जँचा। उन्होने यह प्रतिबन्ध लगाया कि यदि मास ही खाना हो, तो यज्ञमे बलि दिये पशुओका ही मास खाना चाहिए। इसमे हेतु यह था कि हिसा रुके। बहुतोने

तो पूर्ण रूपसे मास छोड दिया, परन्तु जो पूरा-पूरा मास नही छोड सकते थे, उन्हे यह अनुमति दी गयी कि वे उसे यज्ञमे परमेश्वरको अर्पण कर, कुछ तपस्या करें, तव खाये। उस समय यह माना गया था कि 'यज्ञमे ही मास खा सकते है'—ऐसा प्रतिवन्ध लगा देनेसे हिंसा रुक जायगी, परन्तु वादमे यज्ञ एक सामान्य-क्रम वन गया। ऐसा होने लगा कि जो चाहता, यज्ञ करता और मास खाता। तव भगवान् वुद्ध आगे आये। उन्होने कहा—"तुम्हे मास खाना हो तो खाओ, परन्तु भगवान्का नाम लेकर तो मत खाओ।" इन दोनो वचनोका हेतु एक ही था—हिंसाकी रोक हो, गाडी किसी-न-किसी तरह सयमके मार्गपर आये। यज्ञ-याग करो या न करो—दोनोसे हमने मासाशनका त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मास-भक्षण छोडते गये।

१८ ससारके इतिहासमे अकेले भारतवर्पमे ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोडो लोगोने मास खाना छोड दिया। आज हम मास नही खाते है, इसमे हमारा कोई वडप्पन नही है। पूर्वजोकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गये है। परन्तु पहलेके ऋपि मास खाते थे, ऐसा यदि हम पढे या सुने, तो हमे आश्चर्य मालूम होता है। "क्या वकते हो ? ऋपि मास खाते थे ? कभी नही।" परन्तु मासाशन करते हुए उन्होने सयम करके उसका त्याग किया, इसका श्रेय उन्हे है। उन कष्टोका अनुभव आज हमे नही होता। उनकी पुण्याई मुफ्तमे हमे मिल गयी।

पहले वे मासाशन करते थे और आज हम नही करते, इसका अर्थ यह नही कि हम आज उनसे वडे हो गये है। उनके अनुभवका लाभ हमे अनायास ही मिल गया है। हमे उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमे दूध विलकुल ही छोड देनेका प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य अन्य जीवोका दूध पीये, यह वात भी तो हीनताकी है। दस हजार वर्प वाद लोग हमारे विपयमे कहेगे—"क्यो, हमारे पूर्वजोको दूध न पीनेका व्रत लेना पडा था ? राम-राम, वे दूध कैसे पीते होगे ? ऐसे थे वे जगली।" साराश यह कि हमे निडर होकर, नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरन्तर आगे वढते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी पर्याप्त अवकाश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नही हो पाया।

९२. आसुरी सम्पत्तिकी तिहरी महत्त्वाकांक्षा : सत्ता, संस्कृति और सम्पत्ति

१५ हमे दैवी सपत्तिका विकास करना है और आसुरी सपत्तिसे दूर रहना है। आसुरी सम्पत्तिका वर्णन भगवान्ने इसीलिए किया है कि हम उनसे दूर

रह सके। इसमे कुल तीन बाते मुख्य है। असुरोके चरित्रका सार 'सत्ता, सस्कृति और सम्पत्ति' मे है। वे कहते है–एक हमारी ही सस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकाक्षा होती है कि वही सारे ससारपर लादी जाय। हमारी ही सस्कृति क्यो लादी जाय ? तो कहते है–वही सबसे अच्छी है। अच्छी क्यो है ? क्योकि वह हमारी है। चाहे आसुरी व्यक्ति हो, चाहे असुरोसे वने साम्राज्य हो, वे इन तीन चीजोका आग्रह रखते है।

१६ ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते है कि हमारी सस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोमे भरा हुआ है। वैदिक सस्कृतिकी विजय सारे ससारमे होनी चाहिए। **अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठत सशर धनु**–इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वीपर अपनी सस्कृतिका झडा फहराओ। परन्तु पीठपर जहाँ 'सशर धनु' रहा, तो फिर आगे हाथमे रखे बेचारे वेदोकी समाप्ति ही समझिये। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते है कि कुरानशरीफमे जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते है। अन्य धर्मका मनुष्य कितना ही उच्च कोटिका क्यो न हो, उसे जबतक ईसामसीहपर विश्वास नही हो जाता, तब-तक उसे स्वर्ग मिलनेवाला नही। भगवान्के मदिरका उन्होने केवल एक ही दरवाजा रखा है, वह है ईसामसीहवाला। लोग तो अपने घरोमे अनेक दर-वाजे और खिडकियाँ लगाते है, परन्तु बेचारे भगवान्के मदिरमे केवल एक ही दरवाजा रखते है।

१७ **आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।**

—मै ही कुलीन हूँ, मै ही श्रीमत हूं, मेरे जोडका दूसरा कौन है ?

सब यही मानते है। मै कौन ? भारद्वाज-कुलका। मेरी यह परम्परा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोका है। कहते है, हमारी नसोमे नार्मन सरदारोका रक्त बहता है। हमारे यहाँ गुरुपरम्परा है न ? मूल आदिगुरु है शकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमे दस-पाँच नाम आते है, बादमे अपने गुरुका नाम और फिर मै–ऐसी परम्परा बतायी जाती है। इस वशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम श्रेष्ठ, हमारी सस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी सस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है, तो उसे अपने आचरणमे दीखने दो न! अपने जीवनमे उसकी प्रभा फैलने दो न! परन्तु ऐसा नही होता। जो सस्कृति स्वय हमारे जीवनमे नही है, हमारे घरमे नही है, उसे ससारभरमे फैलानेकी आकाक्षा रखना–इस विचार-पद्धतिको 'आसुरी' कहते है।

१८ फिर जैसे मेरी सस्कृति सुन्दर है, वैसे ही यह विचार भी है कि ससारकी सारी सम्पत्ति रखनेके योग्य भी मै ही हूँ। ससारकी सारी सपत्ति मुझे चाहिए और मे उसे प्राप्त करूँगा ही। वह सपत्ति किसलिए प्राप्त करनी है ? तो सवमे समान रूपसे वाँटनेके लिए। इसके लिए मै स्वत अपनेको धन-सपत्तिमे गाड लेता हूँ। अकवरने यही तो कहा था-"ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमे क्यो नही दाखिल होते ? एक साम्राज्य वनेगा, तो शाति स्थापित होगी।" वह प्रामाणिक रूपसे ऐसा मानता था। वर्तमान असुरोकी भी ऐसी ही धारणा है कि सारी सम्पत्ति वटोरनी है। क्यो ? उसे फिर सवमे वाँटनेके लिए।

१९ उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथमे केन्द्रीभूत होनी चाहिए। सारी दुनिया मेरे तन्त्रमे आ जानी चाहिए। स्व-तत्र-मेरे तत्र-के अनुसार चलनी चाहिए। जो मेरे अधीन होगा, जो मेरे तन्त्रके अनुसार चलेगा, वही स्वतन्त्र। इस तरह सस्कृति, सत्ता और सपत्ति—इन तीन मुख्य वातोपर आसुरी सपत्तिमे जोर दिया जाता है।

२० एक समय ऐसा था, जव समाजमे ब्राह्मणोका प्रभुत्व था। शास्त्र वे लिखते, कानून वे वनाते, राजा उनके समक्ष नतमस्तक होते। वह युग वदला। क्षत्रियोका युग आया। घोडे छोडे जाने लगे, दिग्विजय किये जाने लगे। यह क्षत्रिय सस्कृति भी आयी और चली गयी। ब्राह्मण कहता-"मै विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन ?" ब्राह्मणोको अपनी सस्कृतिका अभिमान था। क्षत्रियोका जोर सत्तापर था-"आज इसे मारा, कल उसे मारूँगा।" इस वातपर उनका सारा जोर रहता था। फिर वैश्योका युग आया। "पीठपर मारो, पर पेटपर मत मारो।" इसमे वैश्योका सारा तत्त्वज्ञान है, पेटकी सारी अक्ल। "यह धन मेरा और वह भी मेरा हो जायगा"-यही जप और यही सकल्प। अग्रेज हमे कहते हैं न-"स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परन्तु हमारा तैयार माल वेचनेकी सुविधा, सहूलियते हमे दे दो, फिर भले ही अपनी सस्कृतिका अध्ययन करते रहो। लँगोटी लगाओ और अपनी सस्कृतिको लिये वैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं, वे व्यापारके लिए ही होते है। यह युग भी जायगा, जानेका आरम्भ भी हो गया है। इस तरह ये सव आसुरी सपत्तिके प्रकार है।

९३. काम-क्रोध-लोभ-मुक्तिका शास्त्रीय सयम-मार्ग

२१ हम आसुरी सपत्तिको दूर हटाते रहे। सक्षेपमे कहे, तो आसुरी सपत्तिका अर्थ है-"काम, क्रोध, लोभ।" ये ही तीनो सारे ससारको नचा रहे

है। अब इस नृत्यको समाप्त करो। हमे यह छोड देना ही चाहिए। क्रोध और लोभ कामसे पैदा होते है। कामके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेसे लोभ पैदा होता है और प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामे पद-पदपर यह कहा है कि इन तीनोसे बचते रहो। सोलहवे अध्यायमे अतमे यही कहा है—काम, क्रोध और लोभ, ये ही नरकके तीन बडे द्वार है। इनमे बहुत बडा आवागमन होता है। अनेक लोग आते-जाते है। नरकका रास्ता खूब चौडा है। उसमे मोटरे चलती है, बहुतेरे साथी भी रास्तेमे मिल जाते है, परन्तु सत्यकी राह सँकरी है।

२२ तो अब इन काम, क्रोध, लोभसे बचे कैसे ? सयम-मार्ग अगीकार करके। शास्त्रीय सयमका पल्ला पकड लेना चाहिए। सतोका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोगद्वारा जो अनुभव सतोको हुए, उन्हीसे शास्त्र बनता है। इस सयम-सिद्धान्तका हाथ पकडो। व्यर्थकी शका-कुशका मत रखो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शका मत लाइये कि यदि काम-क्रोध उठ गये, तो फिर ससारका क्या हाल होगा, वह तो चलना ही चाहिए, क्या थोडे-से भी काम-क्रोध न रहने चाहिए ? भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर है। आपको जितने चाहिए, उससे भी कही अधिक है। फिर क्यो व्यर्थमे बुद्धि-भेद पैदा करते है ? काम, क्रोध, लोभ आपकी इच्छासे रत्तीभर अधिक ही है। यह चिन्ता न करे कि काम मर जायगा, तो सतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही सतति पैदा करे, एक दिन ऐसा आनेवाला है, जब पृथ्वीपरसे मनुष्यका नाम सर्वथा मिट जायगा। ऐसा वैज्ञानिकोका कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यन्त उष्ण थी। तब उसपर जीवधारी नही रहते थे। जीव पैदा ही नही हुआ था। एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी अत्यन्त ठडी हो जायगी और सारी जीव-सृष्टिका लय हो जायगा। इस बातमे लाखो वर्ष लग जायेगे। आप कितनी ही सतान-वृद्धि क्यो न करे, अन्तमे प्रलय निश्चित है। परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-सरक्षणके लिए, सख्या-सरक्षणके लिए नही। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पापभीरु और सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिन्ता नही। उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिनका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारो लोगोका जीवित रहना, न रहना बराबर है।

२३ इन सब बातोपर ध्यान रखकर सृष्टिमे ढगसे रहिये, सयमसे चलिये। मनमानी न कीजिये। 'लोक-सग्रह' का अर्थ यह नही कि लोग जैसा कहे, वैसा किया जाय। मनुष्योका सघ बढाते जाना, सपत्तिका ढेर इकट्ठा करते जाना—इसे सुधार नही कहते। विकास सख्यापर अवलम्बित

नही है। समाज यदि बेशुमार बढने लगेगा, तो लोग एक-दूसरेका खून करने लग जायँगे। पहले पशु-पक्षियोको खाकर मनुष्य मत्त बनेगा। फिर अपने बाल-बच्चोको खाने लगेगा। काम-क्रोधमे सार है, यह बात यदि मान ले, तो फिर अतमे मनुष्य मनुष्यको फाड खायेगा, इसमे तिलमात्र सदेह नही है। लोक-सग्रहका अर्थ है, सुन्दर और विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जानेपर यदि पृथ्वीसे मनुष्यका लोप हो जायगा, तो वह मगल (ग्रह) मे उत्पन्न हो जायगा। आप चिन्ता न करे। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है। वह हमारी चिन्ता कर लेगा। अत पहले हम मुक्त हो ले। आगे बहुत दूर देखनेकी जरूरत नही है। सारी सृष्टि और मानव-जातिकी चिन्ता न करो। तुम अपनी नैतिक शक्ति बढाओ, काम-क्रोधका पल्ला झाडकर फेक दो। आपुला तू गळा घेईं उगवूनि। –पहले अपना गला तो छुडा लो। तुम्हारी गर्दन जो फँसी है, पहले उसे बचाओ। इतना कर ले, तो बडा काम बने।

२४ ससार-समुद्रसे दूर किनारे खडे रहकर समुद्रकी मौज देखनेमे आनन्द है। जो समुद्रमे डूब रहा है, जिसकी आँख-नाकमे पानी भर रहा है, उसे समुद्रका क्या आनन्द है? सत समुद्र-तटपर खडे रहकर आनन्द लूटते हैं। ससारसे अलिप्त रहनेकी इस सत-वृत्तिका जीवनमे सचार हुए बिना आनन्द नही। अत कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है–"सत ऊँचे पर्वतके शिखरपर खडे रहकर नीचे ससारकी ओर देखते है, तब उन्हे ससार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढकर देखिये, तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर ससारमे मन ही नही लगेगा।

साराश, भगवान्‌ने इस अध्यायमे आग्रहपूर्वक कहा है कि आसुरी सपत्तिको हटाकर दैवी सपत्ति प्राप्त करो। आइये, हम ऐसा ही यत्न करे।

रविवार, ५-६-'३२

परिशिष्ट २

१७ | साधकका कार्यक्रम

९४. सुव्यवस्थित व्यवहारसे वृत्ति मुक्त रहती है

१ प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे अन्ततक पहुँचते आ रहे है। पद्रहवे अध्यायमे हमने जीवनके सम्पूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवे अध्यायमे एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमे और उसके मनके प्रतिबिम्बस्वरूप समाजमे, दो वृत्तियो, दो सस्कृतियो अथवा दो सपत्तियोका झगडा चल रहा है। इनमेसे हमे देवी सपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा हमे सोलहवे अध्यायके परिशिष्टसे मिली है। आज सत्रहवे अध्यायमे हमे दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते है कि इसमे कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमे रोजके कार्यक्रमकी सूचना दे रही है। आजके अध्यायमे हमे नित्य-क्रियापर विचार करना है।

२. अगर हम चाहते है कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे, तो हमे अपने व्यवहारका एक क्रम बाँध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्यक्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है, जब कि हमारा जीवन उस मर्यादामे और एक निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छन्दतासे बहती है, परन्तु उसका प्रवाह बँधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो, तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आँखोके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषोका आचार्य है। भगवान्ने पहले-पहल कर्मयोग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्यसे मनुको, अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको, वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतन्त्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसीमे उसकी स्वतत्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि हमे एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है, तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते है। यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते निकालते रहेगे, तो सारा ध्यान उन रास्तोमे

ही लगाना पडेगा। फिर मनको मुक्तता नही मिल सकती। साराश यह कि हमे अपना व्यवहार इसीलिए बाँध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा नही, बल्कि आनन्दमय प्रतीत हो।

३ इसलिए भगवान् इस अध्यायमे कार्यक्रम बता रहे है। हम तीन सस्थाएँ साथ लेकर ही जन्म लेते है। मनुष्य इन तीनो सस्थाओका कार्य भलीभाँति चलाकर अपना ससार सुखमय बना सके, इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बताती है। वे तीन सस्थाएँ कौन-सी है ? पहली सस्था है—हमारे आसपास लिपटा हुआ यह शरीर। दूसरी सस्था है—हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्माड—यह अपार सृष्टि, जिसके हम एक अश है। जिसमे हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अडोसी-पडोसी—यह हुई तीसरी सस्था। हम रोज इन तीन सस्थाओका उपयोग करते है—इन्हे छिजाते है। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन सस्थाओमे जो छीजन आती है, उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करे और अपना जीवन सफल बनाये। इन सस्थाओके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्तव्य हमे निरहकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्तव्योको पूरा तो करना है, परन्तु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो ? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोसे हम परिचित है, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नही समझते। अगर हम इनका अर्थ समझ ले और इन्हे अपने जीवनमे समाविष्ट करे, तो ये तीनो सस्थाएँ सफल हो जायँ और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

९५. उसके लिए त्रिविध क्रियायोग

४ इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखे कि 'यज्ञ' का अर्थ क्या है। सृष्टि-सस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। सौ आदमी यदि एक जगह रहते हैं, तो दूसरे दिन वहाँकी सारी सृष्टि दूषित हुई दिखाई देती है। वहाँकी हवा हम दूषित कर देते है, जगह गदी कर देते है। अन्न खाते है और सृष्टिको भी छिजाते है। सृष्टि-सस्थाकी इस छीजनकी हमे पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-सस्थाका निर्माण हुआ है।

यज्ञका उद्देश्य क्या है ? सृष्टिकी जो हानि हो गयी है, उसे पूरा करना। आज हजारो वर्षोसे हम जमीन जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—"पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो, जमीनमे हल चलाओ, उसमे सूर्यकी रोशनी पैठने दो। उसमे खाद डालो।"

छीजनकी पूर्ति करना, यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है, उपयोगमे लायी हुई वस्तुओका शुद्धीकरण। हम कुएँका उपयोग करते है, जिससे आसपास गदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएँके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गयी है, उसे शुद्ध करना चाहिए। वहाँका गदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने ओर सफाई करनेके साथ ही वहाँ कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए—यह तीसरी बात भी यज्ञके अतर्गत है। हमने कपडा पहना, तो हमे चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करे। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना, यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमे जो कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नही, बल्कि हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्तव्य-भावनासे वह होना चाहिए। यह परोपकार नही है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार है। जन्मत ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते है। इस ऋणको चुकानेके लिए हमे जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नही। उस सेवासे हमे अपना ऋण चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि-सस्थाका उपयोग करते है। अत उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए और नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमे यज्ञ करना होता है।

५ दूसरी सस्था है, हमारा मनुष्य-समाज। माँ-बाप, गुरु, मित्र, ये सब हमारे लिए मेहनत करते है। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दानकी व्यवस्था की गयी है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नही। समाजसे मैने अपार सेवा ली है। जब मै इस ससारमे आया, तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बडा किया है। इसलिए मुझे समाजकी सेवा करनी चाहिए। 'परोपकार' कहते है, दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परन्तु यहाँ तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके है। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय, वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे वढनेमे सहायता करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरी करनेके लिए जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है, और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

६ इसके अलावा एक तीसरी सस्था और है। वह है, शरीर। शरीर भी प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, सबसे काम लेते है, इनको छिजाते है। इस शरीररूपी सस्थामे जो विकार, जो दोष उत्पन्न हो, उनकी शुद्धिके लिए 'तप' बताया गया है।

७ इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनो सस्थाओका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य सस्थाएँ निर्माण करते है, परन्तु ये तीन सस्थाएँ हमारी बनायी हुई नही है। ये तो स्वभावत ही हमे मिल गयी है। ये सस्थाएँ कृत्रिम नही है। अत इन तीन सस्थाओकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चले, तो जो कुछ शक्ति हमारे अन्दर है, वह सारी इसमे लग जायगी। अन्य बातोके लिए और शक्ति शेष ही नही बचेगी। इन तीनो सस्थाओ—सृष्टि, समाज और शरीर—को सुन्दर रखनेके लिए हमे अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पडेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सके कि "हे प्रभो, 'ज्योकी त्यो धरि दीन्ही चदरिया'—तूने मुझे जैसी चादर दी थी, उसे वैसी-की-वैसी छोडकर जा रहा हूँ, तू इसे अच्छी तरह जाँच ले", तो वह कितनी बडी सफलता है। परन्तु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान और तपका त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमे लाना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपमे हमने भेद माना है, परन्तु सच पूछा जाय तो इनमे भेद नही है, क्योकि सृष्टि, समाज और शरीर—ये बिलकुल भिन्न-भिन्न सस्थाएँ है ही नही। यह समाज सृष्टिसे बाहर नही है, न यह शरीर ही सृष्टिके बाहर है। इन तीनोको मिलाकर एक ही भव्य सृष्टि-सस्था बनती है। इसीलिए हमे जो उत्पादक श्रम करना है, जो दान देना है, जो तप करना है, उन सबको व्यापक अर्थमे 'यज्ञ' ही कह सकते है। गीताने चौथे अध्यायमे 'द्रव्य-यज्ञ', 'तपो-यज्ञ' आदि यज्ञ बताये है। गीताने यज्ञका अर्थ विशाल बना दिया है।

इन तीनो सस्थाओके लिए हम जो-जो सेवा-कार्य करेगे, वे यज्ञरूप ही होगे। आवश्यकता है उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी। उससे फलकी अपेक्षा तो की ही नही जा सकती, क्योकि फल तो हम पहले ही ले चुके है। ऋण तो पहले ही सिरपर चला आ रहा है। जो लिया है, उसे वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-सस्थामे साम्यावस्था प्राप्त होती है। दानसे समाजमे साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमे साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनो ही सस्थाओमे साम्यावस्था रखनेका कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी और दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

८ यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ 'भोग' भी ग्रहण करना पडेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अग है। इस भोगको गीता 'आहार' कहती है। इस

शरीररूपी यत्रको अन्नरूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वय यज्ञ नही है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अग अवश्य है। इसलिए हम कहा करते हैं—

उदरभरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म।

—'यह उदर-भरण नही, इसे यज्ञ-कर्म जानो।'

वगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढाना, यह पूजा है, परन्तु फूल उत्पन्न करनेके लिए वगीचेमे जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञ पूरा करनेके लिए जो-जो क्रिया की जाती है, वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममे आ सकेगा, जब हम उसे आहार देगे। यज्ञ-साधनरूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोको 'तदर्थीय-कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म'—कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खडा रहे, इसलिए इस शरीरको जो आहुति दूँगा, वह यज्ञरूप है। सेवाके लिए किया गया आहार पवित्र है।

९ इन सब वातोके मूलमे फिर श्रद्धा चाहिए। सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमे होना चाहिए। यह बडे महत्त्वकी वात है। ईश्वरार्पण-वुद्धिके विना सेवामयता नही आ सकती। इस प्रधान वस्तुको, ईश्वरार्पणताको भुला देनेसे काम नही चलेगा।

९६. साधनाका सात्त्विकीकरण

१० परन्तु हम अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरको कव अर्पण कर सकेगे? तभी, जव कि वे सात्त्विक होगी। जव हमारे सब कर्म सात्त्विक होगे, तभी हम उन्हे ईश्वरार्पण कर सकेगे। यज्ञ, दान और तप, सव सात्त्विक होने चाहिए। क्रियाओको सात्त्विक कैसे वनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवे अध्यायमे देख लिया है। इस अध्यायमे गीता उस तत्त्वका विनियोग वता रही है।

११ सात्त्विकताकी यह योजना करनेमे गीताका उद्देश्य दुहरा है। वाहरसे यज्ञ, दान और तपरूप जो मेरी विश्व-सेवा चल रही है, उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सकता है। सृष्टिकी सेवा और साधनाके भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नही होने चाहिए। सेवा और साधना, ये दो भिन्न वाते हैं ही नही। दोनोके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म। इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अन्तमे ईश्वरार्पण करना है। समाज-सेवा+साधना+ ईश्वरार्पणता—यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए।

१२ यज्ञको सात्त्विक वनानेके लिए दो वातोकी आवश्यकता है—निष्फ-लताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बाते यज्ञमे होनी चाहिए।

यज्ञमे यदि सकामता होगी, तो वह राजस यज्ञ हो जायगा और यदि निष्फलता होगी, तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है, परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमे अपनी आत्मा नही उँडली, और हमे चित्तकी एकाग्रता नही सधी, तो वह सूत्रयज्ञ जड हो जायगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे है, उस समय अदरसे मनका मेल नही है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी। विधिहीन कर्म जड हो जाते है। विधिहीन क्रियामे तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नही हो सकता। उसमेसे फलकी निष्पत्ति नही होगी। यज्ञमे सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। कर्ममे यदि मन न हो, आत्मा न हो, तो वह कर्म बोझ-सा हो जायगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहाँ? यदि बाहरका काम बिगडा, तो यह निश्चित समझो कि अदर मनका योग नही था। अत कर्ममे अपनी आत्मा उँडेलो। आतरिक सहयोग रखो। सृष्टि-संस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमे उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोमे फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आतरिक मेलकी विधियुक्तता आवश्यक है।

१३ इस प्रकार जब हमारे अदर निष्कामता आ जायगी और विधिपूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है? बाहरी कामकी जाँच करके देखो। यदि वह निर्मल और सुन्दर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमे कोई बाधा नही। भला, कर्ममे सुन्दरता कब आती है? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसदगीकी, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमका हाथ फिराता है, तो वहाँ सौदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यका अर्थ है, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरीय प्रसाद। शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुन्दर मूर्ति मेरे हाथोसे नही बनी। मूर्तिका आकार गढते-गढते अतिम क्षणमे न जाने कहाँसे उसमे अपने-आप सौदर्य आ टपकता है। क्या चित्त-शुद्धिके बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है? मूर्तिमे जो कुछ स्वारस्य माधुर्य है, वह यही कि अपने अत करणका सारा सौंदर्य उसमे उँडेल दिया जाता है। मूर्तिके मानी है, हमारे चित्तकी प्रतिमा। हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तियाँ है। अगर मन सुन्दर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुन्दर होगी। बाहरके कर्मोकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोसे जाँच लेनी चाहिए।

शरीररूपी यत्रको अन्नरूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वय यज्ञ नही है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अग अवश्य है। इसलिए हम कहा करते हैं—

उदरभरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म।

—'यह उदर-भरण नही, इसे यज्ञ-कर्म जानो।'

बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढाना, यह पूजा है, परन्तु फूल उत्पन्न करनेके लिए बगीचेमे जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञ पूरा करनेके लिए जो-जो क्रिया की जाती है, वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममे आ सकेगा, जब हम उसे आहार देगे। यज्ञ-साधनरूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोको 'तदर्थीय-कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म'—कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खडा रहे, इसलिए इस शरीरको जो आहुति दूँगा, वह यज्ञरूप है। सेवाके लिए किया गया आहार पवित्र है।

९ इन सब बातोके मूलमे फिर श्रद्धा चाहिए। सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमे होना चाहिए। यह बडे महत्त्वकी बात है। ईश्वरार्पण-बुद्धिके बिना सेवामयता नही आ सकती। इस प्रधान वस्तुको, ईश्वरार्पणताको भुला देनेसे काम नही चलेगा।

९६. साधनाका सात्त्विकीकरण

१० परन्तु हम अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरको कब अर्पण कर सकेगे ? तभी, जब कि वे सात्त्विक होगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होगे, तभी हम उन्हे ईश्वरार्पण कर सकेंगे। यज्ञ, दान और तप, सब सात्त्विक होने चाहिए। क्रियाओको सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवे अध्यायमे देख लिया है। इस अध्यायमे गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है।

११ सात्त्विकताकी यह योजना करनेमे गीताका उद्देश्य दुहरा है। बाहरसे यज्ञ, दान और तपरूप जो मेरी विश्व-सेवा चल रही है, उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सकता है। सृष्टिकी सेवा और साधनाके भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नही होने चाहिए। सेवा और साधना, ये दो भिन्न बाते है ही नही। दोनोके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म। इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अन्तमे ईश्वरार्पण करना है। समाज-सेवा+साधना+ईश्वरार्पणता—यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए।

१२. यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोकी आवश्यकता है—निष्फलताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बाते यज्ञमे होनी चाहिए।

यज्ञमे यदि सकामता होगी, तो वह राजस यज्ञ हो जायगा और यदि निष्फलता होगी, तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है, परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमे अपनी आत्मा नही उँडेली, और हमे चित्तकी एकाग्रता नही सधी, तो वह सूत्रयज्ञ जड हो जायगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे है, उस समय अदरसे मनका मेल नही है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी। विधिहीन कर्म जड हो जाते है। विधिहीन क्रियामे तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नही हो सकता। उसमेसे फलकी निष्पत्ति नही होगी। यज्ञमे सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। कर्ममे यदि मन न हो, आत्मा न हो, तो वह कर्म बोझ-सा हो जायगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहाँ? यदि बाहरका काम बिगडा, तो यह निश्चित समझो कि अदर मनका योग नही था। अत कर्ममे अपनी आत्मा उँडेलो। आतरिक सहयोग रखो। सृष्टि-सस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमे उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोमे फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आतरिक मेलकी विधियुक्तता आवश्यक है।

१३ इस प्रकार जब हमारे अदर निष्कामता आ जायगी और विधिपूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है? बाहरी कामकी जाँच करके देखो। यदि वह निर्मल और सुन्दर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमे कोई बाधा नही। भला, कर्ममे सुन्दरता कब आती है? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसदगीकी, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमका हाथ फिराता है, तो वहाँ सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यका अर्थ है, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरीय प्रसाद। शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुन्दर मूर्ति मेरे हाथोसे नही बनी। मूर्तिका आकार गढते-गढते अतिम क्षणमे न जाने कहाँसे उसमे अपने-आप सौंदर्य आ टपकता है। क्या चित्त-शुद्धिके बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है? मूर्तिमे जो कुछ स्वारस्य, माधुर्य है, वह यही कि अपने अत करणका सारा सौंदर्य उसमे उँडेल दिया जाता है। मूर्तिके मानी है, हमारे चित्तकी प्रतिमा। हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तियाँ है। अगर मन सुन्दर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुन्दर होगी। बाहरके कर्मोकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोसे जाँच लेनी चाहिए।

१४ एक बात और। वह यह कि इन सब कर्मोमे मत्र भी चाहिए। मत्र-हीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मत्र अपने हृदयमे रखो कि मै इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोडा जा रहा हूँ। यदि यह मत्र हृदयमे न हो और घटो क्रिया करे, तो भी वह सब व्यर्थं जायगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नही होगा। कपासकी पूनीमेसे अव्यक्त परमात्मा सूत्ररूपमे प्रकट हो रहा है–ऐसा मत्र अपनी क्रियामे डालकर फिर उस क्रियाकी ओर देखो। वह क्रिया अत्यन्त सात्त्विक और सुन्दर बन जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञरूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागेद्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बँध जायँगे। बालकृष्णके छोटे-से मुँहमे यशोदा माँको सारा विश्व दिखलायी दिया। उस मत्रमय सूत्रके धागेमे भी तुम्हे विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

९७. आहार-शुद्धि

१५ ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार, वैसा ही मन। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौन-सा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्वकी है कि वह कितना हो। ऐसा नही है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नही है, परन्तु हम जो आहार लेते है, वह उचित मात्रामे है या नही, यह उससे भी अधिक महत्त्वकी बात है।

१६ हम जो कुछ खाते है, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यो हैं? इसीलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी यज्ञाग ही है। सेवारूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहार चाहिए, इस भावनासे आहारकी ओर देखो। आहार शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमे कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नही, परन्तु हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए पर्याप्त तपस्या की है। आहार-शुद्धिके लिए भारतमे विशाल प्रयोग हुए है। उन प्रयोगोमे हजारो वर्ष बीते। उनमे कितनी तपस्या लगी, यह नही कहा जा सकता। इस भूमण्डलपर भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ कितनी ही पूरी-की-पूरी जातियाँ मासाशन-मुक्त है। जो जातियाँ मासाहारी हैं, उनके भी भोजनमे मास नित्य और मुख्य पदार्थ नही है और जो मास खाते है, वे भी उसमे कुछ हीनता अनुभव करते है। मनसे तो वे भी मासका त्याग कर चुके हैं। मासाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और इसीके लिए वह बद भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान्ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढायी। श्रीकृष्णने असाधारण बाते कुछ कम नही की है, परन्तु भारतकी जनता किस कृष्णके पीछे पागल हुई थी? भारतीय

जनताको तो 'गोपालकृष्ण', 'गोपालकृष्ण' यही नाम प्रिय है। वह कृष्ण, जिसके पास गाये बैठी हुई है, जिसके अधरोपर मुरली धरी है, ऐसा गायोकी सेवा करनेवाला, गोपालकृष्ण ही आबाल-वृद्धोका परिचित है। गो-रक्षणका बडा उपयोग मासाहार बद करनेमे हुआ। गायके दूधकी महिमा बढी और मासाहार कम हुआ।

१७ फिर भी सम्पूर्ण आहार-शुद्धि हो गयी हो, सो बात नही। हमे अब उसे आगे बढाना है। बगाली लोग मछली खाते हे, यह देखकर कितने ही लोगोको आश्चर्य होता है। किन्तु इसके लिए उन्हे दोष देना ठीक न होगा। बगालमे सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरको पूरा पोषण नही मिल सकता। इसके लिए प्रयोग करने पडेंगे। फिर लोगोमे इस बातका विचार शुरू होगा कि मछली न खाकर कौन-सी वनस्पति खाये, जिसमे मछलीके बराबर ही पुष्टि मिल जाय। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होगे और फिर ऐसे प्रयोग होगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जाते है। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कही जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमे रहती है। जब समाजमे वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते है और जब वे बडी श्रद्धा-पूर्वक परिस्थितियोके बन्धन तोडकर बिना पखोके अपने ध्येयाकाशमे उडने लगते है, तब कही ससारोपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममे सचार होता है। मासाहार बन्द करनेके लिए ऋषियोको कितनी तपस्या करनी पडी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पडे होगे, इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमे आता है।

१८ साराश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनत त्याग करके हमारे पूर्वजोने जो कमाई की है, उसे गँवाओ मत। भारतीय सस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत। हमे जैसे-तैसे जीवित नही रहना है। जिसे किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बडा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते है। तब क्या, जैसे पशु, वैसे ही हम? पशुमे और हममे अन्तर है। उस अतरको बढाना ही सस्कृति-वर्धन कहा जाता है। हमारे राष्ट्रने मासाहार-त्यागका बहुत बडा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ। कम-से-कम जिस मजिलतक हम पहुँच चुके है, उससे पीछे तो मत हटो।

यह सूचना देनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोका मासा-हारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी और पश्चिमी सस्कृतियोका

एक-दूसरेपर प्रभाव पड रहा है। मेरा विश्वास है कि अतमे इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य सस्कृतिके कारण हमारी जड श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अध-श्रद्धा डिग गयी, तो कुछ हानि नही। जो अच्छा होगा, वह टिक जायगा और बुरा जलकर राख हो जायगा। अध-श्रद्धा जानेपर उसके स्थानपर अध-अश्रद्धा हो उत्पन्न होनी चाहिए। ऐसा नही कि केवल श्रद्धा ही अधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही 'अध' विशेषणका ठीका नही लिया है। अश्रद्धा भी अधी हो सकती है।

मासाहारके बारेमे आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है। जो हो, कोई नवीन विचार सामने आता है, तो मुझे बडा आनद होता है। लगता है कि लोग जग रहे है और धक्के दे रहे हैं। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आँखे मलते हुए वैसे ही चल पडेगे, तो गिर पडनेकी आशका रहेगी। अत जबतक पूरे-पूरे न जग जायँ, अच्छी तरह आँख खोलकर देखने न लगे, तबतक हाथ-पैरोको मर्यादामे ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिये, आडे-तिरछे, उल्टे-सीधे, चारो ओरसे खूब सोचिये। धर्म-पर विचारकी कैची चलाइये। इस विचाररूपी कैचीसे जो धर्म कट जाय, समझो कि वह तीन कौडीका था। इस तरह जो टुकडे कट-छँट जायँ, उन्हे जाने दो। तुम्हारी कैचीसे जो न कटे, बल्कि उससे उल्टी तुम्हारी कैची ही टूट जाय, वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोसे डर नही। अत विचार तो करो, परन्तु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे, तो गिरोगे। विचार जोरोसे चले, फिर भी कुछ देर आचारको सँभाले रखो। अपनी कृतिपर सयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गँवा बैठो।

९८ अविरोधी जीवनकी गीताकी योजना

१९ आहार-शुद्धिसे चित्त-शुद्धि रहेगी। शरीरको भी बल मिलेगा। समाज-सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमे सतोष रहेगा और समाजमे भी सतोष फैलेगा। जिस समाजमे यज्ञ, दान, तप ये क्रियाएँ विधि और मत्रसहित होती रहती हैं, उसमे विरोध दिखाई नही देगा। दो दर्पण यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हो, तो जैसे इसमेका उसमे और उसमेका इसमे दीखेगा, उसी तरह व्यक्ति और समाजमे बिबप्रतिबिब-न्यायसे परस्पर सतोष प्रकट होगा। जो मेरा सतोष है, वही समाजका है और जो समाजका है, वही मेरा। इन दोनो सतोषोकी हम जाँच कर सकेगे और हम देखेगे कि दोनो एकरूप है। सर्वत्र अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायँगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस

योजनाके द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनाये, तो कितना अच्छा हो!

२० परन्तु आज व्यक्ति और समाजके जीवनमे विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध कैसे दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमे श्रेष्ठ कौन है? व्यक्तिवाद समर्थक कुछ लोग समाजको जड समझते है। सेनापतिके सामने कोई सिपाही आता है, तो सेनापति उससे बोलते समय सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा, परन्तु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो, लकडीका एक लट्ठा हो। उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है और समाज जड, ऐसा अनुभव यहाँ भी हो रहा है। देखो, मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी है, परन्तु उन्हे रुचे या न रुचे, मै तो बोलता ही जा रहा हूँ। मुझे जो विचार सूझता है, वही कहता हूँ। मानो आप जड ही है। परन्तु मेरे सामने कोई व्यक्ति आयेगा, तो मुझे उसकी बात सुननी पडेगी और उसे विचारपूर्वक उत्तर देना पडेगा, परन्तु यहाँ तो मैने आपको घण्टे-घण्टेभर यो ही बैठा रखा है।

"समाज जड है और व्यक्ति चैतन्य"—ऐसा कहकर व्यक्ति-चैतन्यवादका कोई प्रतिपादन करते है और कोई समुदायको महत्त्व देते है। मेरे बाल झड गये, हाथ टूट गया, आँखे चली गयी और दाँत गिर गये। इतना ही नही, एक फेफडा भी बेकार हो गया, परन्तु मै फिर भी जीवित रहता हूँ, क्योकि पृथक् रूपमे एक-एक अवयव जड है। किसी एक अवयवके नाशसे सर्वनाश नही होता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ है। आप जिस दृष्टिसे देखेंगे, वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रगका चश्मा, उसी रगकी सृष्टि!

२१ कोई व्यक्तिको महत्त्व देता है, तो कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमे जीवन-कलहकी कल्पना फैल गयी है, परन्तु क्या जीवन कलहके लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यो नही जाते? कलह तो मरनेके लिए है। तभी तो हम स्वार्थ और परमार्थमे भेद डालते है। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमे अन्तर है, उसकी बलिहारी है। जो वस्तु वास्तवमे है ही नही, उसके अस्तित्वका आभास देनेकी शक्ति जिसकी बुद्धिमे थी, उसकी तारीफ करनेको जी चाहता है। जो भेद नही है,

वह उसने खडा किया और उसे जनताको सिखाया, इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही हे, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बॉधना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नही है। इन सबका कारण है, आज यज्ञमय जीवनका अभाव! इसीसे व्यक्ति और समाजमे भेद उत्पन्न हो गया है।

परन्तु व्यक्ति और समाजमे वास्तविक भेद नही किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उडकर आगे-पीछे होने लगे, तो कभी यह भाग बडा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहरपर उस कमरेके भाग अवलम्बित रहते है। वे स्थायी, पक्के नही है। गीता इन झगडोसे परे है। ये झगडे काल्पनिक है। गीता तो कहती है कि अत शुद्धिकी मर्यादा रखो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोमे कोई विरोध उत्पन्न नही होगा। एक-दूसरेके हितमे कोई बाधा नही होगी। इस बाधाको, इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेपता है। गीताके इस नियमका पालन करनेवाला यदि एक भी व्यक्ति मिल जाय, तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र सम्पन्न हो जायगा। राष्ट्रका अर्थ है राष्ट्रके व्यक्ति। जिस राष्ट्रमे ऐसे ज्ञान और आचारसम्पन्न व्यक्ति नही है, उसे राष्ट्र कैसे मानेगे? भारत क्या है? भारत रवीन्द्रनाथ है, भारत गाधी है या इसी तरहके पॉच-दस नाम। बाहरका ससार भारतकी कल्पना इन्ही पॉच-दस व्यक्तियोपरसे करता है। प्राचीनकालके दो चार, मध्यकालके चार-पॉच और आजके आठ-दस व्यक्ति ले लीजिये और उनमे हिमालय, गगा आदिको मिला दीजिये। बस, हो गया भारत। यही है भारतकी व्याख्या। वाकी सब है इस व्याख्याका भाष्य। भाष्य यानी सूत्रोका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन! झगडा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नही है। दूधका कस देखनेके लिए उसमे मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियोपरसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमे कोई विरोध नही है। विरोध हो भी कैसे सकता है? व्यक्ति-व्यक्तिमे भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक सम्पन्न हो जाय, तो इससे बिगडेगा क्या? हॉ, कोई भी विपन्न-अवस्थामे न हो और सपत्तिवालोकी सपत्ति समाजके काम आती रहे, बस। मेरी दाहिनी जेबमे पैसे है तो क्या, बायी जेबमे है तो क्या? दोनो जेबे आखिर है तो मेरी ही! कोई व्यक्ति सम्पन्न होता है, तो उससे मै सम्पन्न होता हूँ, राष्ट्र सम्पन्न होता है—ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परन्तु हम भेद खडे करते है। धड़ और सिर अलग-अलग हो जायँगे, तो

दोनो मर जायँगे। अत व्यक्ति और समाजमे भेद न करो। गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थको किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामे और बाहरकी अनत हवामे कोई विरोध नही है। यदि मै इनमे विरोधकी कल्पना करके कमरा बद कर लूँगा, तो दम घुटकर मर जाऊँगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो, तो वह अनत हवा भीतर आ जायगी। जिस क्षण मै अपनी जमीन और अपना घरका टुकडा औरोसे अलग करता हूँ, उसी क्षण मै अनत सपत्तिसे वचित हो जाता हूँ। मेरा वह छोटा-सा घर जलता है, गिरता है, तो मै ऐसा समझकर कि मेरा सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हूँ। परन्तु ऐसा क्यो करना चाहिए ? क्यो रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो सकुचित कल्पना करे और फिर रोये ! ये पाँच सौ रुपये मेरे है, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार सपत्तिसे मै दूर हुआ। ये दो भाई मेरे है, ऐसा समझा कि ससारके असख्य भाई मुझसे दूर हो गये—इसका हमे ध्यान नही रहता। मनुष्य अपनेको कितना सकुचित बना लेता है ! वास्तवमे तो मनुष्यका स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल-सुन्दर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति ओर समाजमे उत्तम सहयोग हो।

२२ जीभ और पेटमे क्या विरोध है ? पेटको जितना अन्न चाहिए, उतना ही जीभको देना चाहिए। पेटने 'बस' कहा कि जीभको देना बन्द कर देना चाहिए। पेट एक सस्था है, तो जीभ दूसरी सस्था। मै इन सस्थाओका सम्राट् हूँ। इन सब सस्थाओमे अद्वैत ही है। कहाँसे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन सस्थाओमे वास्तविक विरोध नही है, प्रत्युत सहयोग है, उसी प्रकार समाजमे भी है। समाजमे इस सहयोगको बढानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धिपूर्वक यज्ञ, दान, तप, क्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोसे व्यक्ति और समाज, दोनोका कल्याण होगा।

जिसका जीवन यज्ञमय है, वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है। कि माँका प्रेम मुझपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय और अपनाने-योग्य लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है।

ऐसा पुरुष तो पहावा। जनास वाटे हा असावा॥

'ऐसा पुरुष तो धन्य है, लोग उसे अनन्य रूपसे चाहते है'—ऐसा समर्थ रामदासने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी युक्ति गीताने बतायी है।

९९. समर्पणका मंत्र

२३ गीता यह भी कहती है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जानेपर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए? हम यह सरलतासे कह तो देते है कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परन्तु ऐसा करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोके बाद वह थोड़ा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय हो जायँ, तो भी उसमे ऐसा नही कह सकते कि वे पूजामय हो ही गये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मन्त्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहो आना सेवामय होना कठिन है, क्योकि परार्थमे भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परार्थ सम्भव ही नही है। ऐसा कोई काम नही हो सकता, जिसमे मेरा लेशमात्र भी स्वार्थ न हो। इसलिए प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक नि स्वार्थ सेवा हाथोसे हो, ऐसी इच्छा रखनी चाहिए। यदि यह चाहते हो कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो, तो सारी क्रियाएँ ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेवने कहा है—

नामामृतगोडी वैष्णवा लाधली। योगिया साधली जीवनकळा॥

'वैष्णवको नाम मधुर लगता है। योगी जीवन-कला साधते है।'

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नही है। नामका आन्तरिक घोष और बाह्य जीवन-कला दोनोका मेल है। योगी और वैष्णव एक ही है। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देनेपर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, सब एकरूप हो जाते है। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग है, उन्हे एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। ॐ तत्सत् मन्त्रमे यही भाव सूचित किया जाता है।

२४ परमात्माके अनन्त नाम है। व्यासजीने तो उन नामोका 'विष्णुसहस्र-नाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर ले, वे सब उसके है। जो नाम हमारे मनमे स्फुरित हो, उसी अर्थमे उसे हम सृष्टिमे देखे और तदनुरूप अपना जीवन बनाये। परमेश्वरका जो नाम मनको भाये, उसीको हम सृष्टिमे देखे और उसीके अनुसार हम बने। इसको मै 'त्रिपदा गायत्री' कहता हूँ। उदाहरणके लिए ईश्वरका 'दयामय' नाम ले लीजिये। ऐसा मानकर चले कि वह रहीम है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमे आँखे खोलकर देखे। भगवान्‌ने प्रत्येक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा

दी है। इम तरह उस दयामय प्रभुकी सृष्टिमे जो दयाकी योजना है, उसे देखे और अपना जीवन भी दयामय वनाये। भगवद्गीता-कालमे भगवान्का जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने सुझाया हे। वह है ॐ तत्सत्।

७५ 'ॐ' का अर्थ हे 'हाँ'। परमात्मा हे, इस वीसवी शताव्दीमे भी परमात्मा है। स एव अद्य स उ श्व। वही आज हे, वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है और कमर कसकर मै भी साधना करनेके लिए तैयार हूँ। मै साधक हूँ। वह भगवान् है ओर यह सृष्टि पूजाद्रव्य, पूजा-साधन हे। जव ऐसी भावनासे मेरा हृदय भर जायगा, तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' मेरे गले उतरा। वह है, मे हूँ और मेरी साधना भी हे—ऐसा यह ॐकार-भाव मनमे पैठ जाना चाहिए और साधनामे प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जव कभी देखिये, वह किरणोसहित हे। वह किरणोको दूर रखकर कभी रह ही नही सकता। वह किरणोको नही भूलता। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यो न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जव ऐसा हो जायगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने पचा लिया।

इसके वाद हे 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवान्के मागल्यका सृष्टिमे अनुभव करो। देखो, वह पानीकी सतह! पानीमेसे एक घडा भर लो। उससे जो गड्ढा पडेगा, वह क्षणभरमे ही भर जायगा। यह कितना मागल्य है! यह कितनी प्रीति है! नदी गड्ढोको सहन नही करती। गड्ढोको भरनेके लिए दौडती है।

नदी वेगेन शुद्ध्यति।

सृष्टिरूपी नदी वेगसे शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सव शुभ और मगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस 'सत्' नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएँ निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोमेसे छाना जाता था, उसी तरह अपने कर्मो और साधनोको नित्य परीक्षण करके निर्दोष वनाना चाहिए।

अव रहा 'तत्'। 'तत्' का अर्थ है 'वह'—कुछ तो भी भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय होते ही कमल खिलने लगते है, पक्षी उडने लगते है और अधकार नष्ट हो जाता है। परन्तु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है। इन सव परिणामोसे वह विलकुल अलग-सा रहता हे। हम अपने कर्मोमे अनासक्ति रखे, अलिप्तता लाये, तव ऐसा मानना चाहिए कि हमारे जीवनमे 'तत्' नाम प्रविष्ट हुआ।

२६ इस प्रकार गीताने यह ॐ तत्सत् वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पिछले नवे अध्यायमे सब कर्मोको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। 'यत्करोषि यदश्नासि' इस श्लोकमे यही कहा गया है। इसी बातका सत्रहवे अध्यायमे विवरण दिया गया है। परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए, तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी—यह बात यहाँ विशेष रूपसे बतायी गयी है।

१००. पापहारि हरिनाम

२७ यह सब ठीक है, किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यह 'ॐ तत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही पच सकता है, पापी पुरुष क्या करे? पापियोके मुँहमे भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नही? 'ॐ तत्सत्' नाममे वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममे असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है। वह पापसे निष्पापकी ओर ले जा सकती है। जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी दुर्बलताके समय वह तुम्हे सहायता देगा।

२८ यदि कोई मुझसे कहे कि "एक ओर पुण्यमय किन्तु अहकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय, किन्तु नम्र जीवन—इनमेसे किसी एकको पसन्द करो", तो यदि मै मुँहसे न भी बोल सकूँ, फिर भी अन्त करणसे कहूँगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो!" मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती है, तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, उसीको ले। इसका यह अर्थ नही कि मै पापमय जीवनका समर्थन कर रहा हूँ। परन्तु पाप उतना पाप नही है, जितना कि पुण्यका अहकार पाप है।

बहु भितो जाणपणा। आड न यो नारायणा॥

'कही यह सुजानपन, नारायण रोक न दे!'—ऐसा तुकारामने कहा है। वह बडप्पन नही चाहिए। उसकी अपेक्षा तो पापी, दु खी होना ही अच्छा है।

जाणतें लेंकरू। माता लागे दूर धरू॥

'जो बच्चे ज्ञानी है, उन्हे माँ भी दूर रखती है।'

परन्तु अज्ञानी बालकोको माँ अपनी गोदमे उठा लेगी। मै 'स्वावलम्बी पुण्यवान्' नही होना चाहता। 'परमेश्वरावलम्बी पापी' होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने जैसी है। हम पापोको

रोकनेका प्रयत्न करे। यदि वे नही रुके, तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खडा-खडा तमाशा देख रहा है। पुकार करो—"मै पापी हूँ, इसीलिए तेरे द्वारे आया हूँ।" पुण्यवान्‌को ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योकि वह पुण्यवान् है। पापीको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योकि वह पापी है।

रविवार, १२-६-'३२

उपसंहार

फलत्यागकी पूर्णता–ईश्वर-प्रसाद | १८

१०१. अर्जुनका अन्तिम प्रश्न

१ मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवे अध्यायतक आ पहुँचे है। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमे किसी भी संकल्पको पूर्णतातक ले जाना परमेश्वरकी इच्छापर निर्भर है। इसमे भी जेलमे तो कदम-कदमपर अनिश्चितता अनुभव होती है। यहाँ कोई काम शुरू करनेपर फिर यही उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। आरम्भ करते समय ऐसी अपेक्षा नही थी कि हमारी यह गीता यहाँ पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर-इच्छासे हम समाप्तितक आ पहुँचे है।

२ चौदहवे अध्यायमे जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये गये। इन तीनोमेसे राजस और तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवे अध्यायमे यही बात दूसरे ढगसे कही गयी है। यज्ञ, दान और तप या एक ही शब्दमे कहे, तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवे अध्यायमे हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म है, उन्हे सात्त्विक और यज्ञरूप बनाकर ही ग्रहण करे। केवल उन्ही कर्मोको अंगीकार करे, जो यज्ञरूप और सात्त्विक है, शेष कर्मोका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' मंत्रको क्यो स्मरण रखना चाहिए। 'ॐ' का अर्थ है, सातत्य। 'तत्' का अर्थ है, अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है, सात्त्विकता। हमारी साधनामे

सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोसे ऐसा लगता है कि कुछ कर्म तो हमे करने है और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षापर हम दृष्टि डाले, तो स्थान-स्थानपर यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके त्यागकी बात कहती है। गीतामे सर्वत्र यही शिक्षा दी गयी है कि कर्म तो सतत करो, परन्तु फलका त्याग करते रहो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पडता है कि कुछ कर्म किये जायँ और कुछका त्याग किया जाय। अत अतत अठारहवे अध्यायके आरम्भमे अर्जुनने प्रश्न किया—"एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्यागपूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य है और कुछ करने योग्य है, इन दोनोमे मेल कैसे बिठाया जाय ?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न है। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र 'सन्यास' कहता है, उसमे कर्म स्वरूपत. छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फलत्यागमे कर्मका फलत त्याग करना होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है ? क्या फल-त्यागकी कसौटीमे सन्यासका कोई उपयोग है ? सन्यासकी मर्यादा कहाँतक है ? सन्यासका कोई उपयोग है ? सन्यासकी मर्यादा कहाँतक है ? सन्यास और फल-त्याग, इन दोनोकी मर्यादा कहाँतक और कितनी है ? अर्जुनका यही प्रश्न है।

१०२. फल-त्याग सार्वभौम कसौटी

३ उत्तरमे भगवान्ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व सर्वत्र लागू किया जा सकता है। सब कर्मोके फलोका त्याग तथा राजस और तामस कर्मोका त्याग, इन दोनोमे विरोध नही है। कुछ कर्मोका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करे, तो वे कर्म स्वत ही गिर पडते है। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेका ो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोडने ही चाहिए। फलत्यागपूर्वक कर्म करनेमे कुछ कर्मोके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

४ इसपर जरा गहराईसे विचार करे। जो कर्म काम्य है, जिनके मूलमे कामना है, उन्हे फल-त्यागपूर्वक करो—ऐसा कहते ही वे ढह जाते है। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खडे ही नही रह सकते। फल-त्यागपूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम, तात्रिक और यात्रिक क्रिया तो है नही। इस

कसौटीके द्वारा यह अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौन-से कर्म किये जायँ और कौन-से नही। कुछ लोग कहते है कि 'गीता केवल यही बताती है कि फल-त्यागपूर्वक कर्म करो, पर यह नही बताती कि कौन-से कर्म करो।' ऐसा भास तो होता है, परन्तु वस्तुत ऐसा हे नही, क्योकि, 'फल-त्यागपूर्वक कर्म करो' इतना कहनेसे ही पता चल जाता है कि कौन-से कर्म करे और कोन-से नही। हिसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चौर्य कर्म फल-त्यागपूर्वक किये ही नही जा सकते। फल त्यागकी कसौटीपर कसते ही ये कर्म हवामे उड जाते हे। सूर्यकी प्रभा फैलते ही सब चीजे उजली दिखाई देने लगती है, पर अँधेरा भी क्या उजला दिखाई देता हे ? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध और काम्य कर्मोकी हे। हमे सब कर्म फल-त्यागकी कसौटीपर कस लेने चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मै करना चाहता हूँ, वह अनासक्तिपूर्वक फलकी लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना सभव है क्या ? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हे। उनका तो त्याग ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्तिपूर्वक अहकार छोडकर करने चाहिए। काम्य कर्मोका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फलत्यागकी कैंची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन बाते हमने देखी। पहली तो यह कि जो कर्म हमे करने है, वे फल-त्यागपूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस और तामस कर्म—निषिद्ध और काम्य कर्म—फल त्यागकी कसौटीपर कसते ही अपने-आप गिर जाते है। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा, उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैने इतना त्याग किया, ऐसा अहकार न होने देना चाहिए।

५ राजस और तामस कर्म त्याज्य क्यो हे ? इसलिए कि वे शुद्ध नही है। शुद्ध न होनेसे उन कर्मोका कर्ताके चित्तपर सस्कार पडता है, परन्तु अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोष होते हे। जितने भी कर्म है, उन सबमे कुछ-न-कुछ दोष हे ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है, लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्मरूप खेतीमे भी हिंसा तो होती ही है, हल जोतने आदिमे कितने ही जन्तु मरते ह। कुएंके पास कीचड न होने देनेके लिए वहाँ पत्थर बैठानेमे भी कितने ही जीव-जन्तु मरते हे। सवेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमे प्रवेश करता हे, उसमे असख्य जन्तु नष्ट हो जा है। जिसे 'शुद्धीकरण' कहते हे, वह भी

मारण-क्रिया ही हो जाती है। साराश, जब सात्त्विक स्वधर्मरूप कर्म भी सदोष हो जाता है, तब क्या करे ?

६ मै पहले ही कह चुका हूँ कि सब गुणोका विकास होना तो अभी बाकी है। हमे ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिसा—इनके बिंदुमात्रका ही अभी अनुभव हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नही है। ससार अनुभव लेकर आगे बढता जाता है। मध्ययुगमे एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमे हिसा होती है, इसलिए अहिसक व्यक्ति खेती न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है, पर कहते थे कि अन्न बेचना पाप नही। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे हित नही हो सकता। यदि मनुष्य इस तरह कर्म-सकोच करता चला जाय, तो अन्तमे आत्मनाश ही होगा। मनुष्य कर्मसे छूटनेका ज्यो-ज्यो विचार करेगा, त्यो-त्यो कर्मका अधिक विस्तार होता जायगा। आपके इस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती न करनी पडेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिसाके आप हिस्सेदार न होगे ? अगर कपास उपजाना पाप है, तो उस उपजी हुई कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमे दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोका बहिष्कार करना—यह कर्म नही, वह कर्म नही, कुछ मत करो, इस प्रकार देखनेवाली दृष्टिमे, कहना होगा कि सच्चा दयाभाव शेष नही रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचनेसे पेड नही मरता, वह तो उल्टा पल्लवित होता है। क्रियाका सकोच करनेमे आत्म-सकोच ही है।

१०३. क्रियासे छूटनेकी सच्ची रीति

७ अब प्रश्न यह होता है कि यदि सब क्रियाओमे दोष है, तो फिर सब क्रियाओको छोड ही क्यो न दे ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। सब कर्मोका त्याग करनेकी कल्पना बडी सुन्दर है। यह विचार मोहक है। पर ये असख्य कर्म आखिर छोडे कैसे ? राजस और तामस कर्मोके छोडनेकी जो रीति है, क्या वही सात्त्विक कर्मोके लिए उपयुक्त होगी ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म है उन्हे कैसे टाले ? मजा तो यह है कि **'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा'**, की तरह जब मनुष्य ससारमे करने लगता है, तब अमर होनेके कारण इद्र तो मरता ही नही, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उल्टा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोमे पुण्य है और थोडा दोष है। परन्तु थोडा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे, तो मजबूत होनेके कारण पुण्य-क्रिया तो नष्ट नही ही होगी, दोष-क्रिया अवश्य

ही बढती चली जायगी। ऐसे मिश्रित, विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इन्द्र तो मरता ही नही, पर मर सकनेवाला दोषरूप तक्षक भी नही मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौन-सी? बिल्ली हिंसा करती है इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेंगे। साँप हिंसा करते है, इसलिए अगर उन्हे दूर किया, तो सैकडो जन्तु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेसे हजारो मनुष्य मर जायेंगे। इसलिए त्याग विवेकयुक्त होना चाहिए।

८ गोरखनाथसे मच्छीन्द्रनाथने कहा—"इस लडकेको धो लाओ!" गोरखनाथने लडकेके पैर पकडकर उसे शिलापर पछाड डाला और बाडपर सुखाने डाल दिया। मच्छीन्द्रनाथने पूछा—"लडकेको धो लाये?" गोरखनाथने उत्तर दिया—"हाँ, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है!" लडकेको क्या इस तरह धोया जाता है? कपडे और मनुष्य धोनेका ढग एक-सा नही है। इन दोनो ढगोमे बडा अन्तर है। इसी तरह राजस-तामस कर्मोके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमे बडा अन्तर है। सात्त्विक कर्म छोडनेकी रीति दूसरी है।

विवेकहीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकारामने कहा **"त्यागें भोग माझ्या येतील अतरा। मग मी दातारा काय करू।"**—'त्यागसे जो भीतर भोग उगे, तब हे दाता! मै क्या करूँ?' छोटा त्याग करने जाते है, तो बडा भोग आकर छातीपर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्यागकी पूर्तिके लिए बडे-बडे इन्द्रभवन खडे करते है। इससे तो वह झोपडी ही अच्छी थी। वही पर्याप्त थी। लँगोटी लगाकर आसपास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्‌ने सात्त्विक कर्मोके त्यागकी पद्धति ही अलग बतायी है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने हे, लेकिन उनके फलोको तोड फेकना है। कुछ कर्म तो समूल त्याज्य हे और कुछके सिर्फ फल ही छोडने होते हे। शरीरपर कोई ऐसा-वैसा दाग पड जाय, तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है, पर चमडीका रंग ही काला है, तो उसपर कलई करनेसे क्या लाभ? यह काला रग ज्यो-का-त्यो रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यो हो? उसे अमगल न कहो।

९ एक आदमी था। उसे अपना घर अमगल प्रतीत होने लगा, तो वह किसी गाँवमे चला गया। वहाँ उसे गदगी दिखाई दी, तो जगलमे चला गया। जगलके एक आमके पेडके नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिरपर बीट कर दी। 'यह जगल भी अमगल है'—ऐसा कहकर वह नदीमे जा खडा

हुआ। नदीमे उसने देखा कि बडी मछलियाँ छोटी मछलियोको खा रही है, तब तो उसे बडी घिन लगी। 'अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमगल है। यहाँ मरे बिना छुटकारा नही', ऐसा सोचकर वह पानीसे बाहर आया और आग जलायी। उधरसे एक सज्जन आये और बोले–"भाई, यह मरनेकी तैयारी क्यो ?" "यह ससार अमगल है, इसलिए!"–वह बोला। उस सज्जनने उत्तर दिया–"तेरा यह गदा शरीर, यह चरबी यहाँ जलने लगेगी, तो यहाँ कितनी बदबू फैलेगी! हम यहाँ पास ही रहते है। तब हम कहाँ जायँगे ? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गन्ध आती है! फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी! कितनी दुर्गन्ध फैलेगी, इसका भी तो कुछ विचार कर!" वह आदमी परेशान होकर बोला–"इस दुनियामे न जीनेकी सुविधा है और न मरनेकी ही, तो अब क्या करूँ ?"

१० तात्पर्य यह कि 'अमगल-अमगल'–ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे, तो काम नही चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोसे बचना चाहोगे, तो दूसरे बडे कर्म सिरपर सवार हो जायँगे। कर्म स्वरूपत बाहरसे छोड़नेपर नही छूटते। जो कर्म सहज रूपसे प्रवाह-प्राप्त है, उनका विरोध करनेमे अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा–प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अन्तमे वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मनपरका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने-आप समाप्त होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएँ लुप्त हो जायँगी। कर्म छूटेगा ही नही, क्रिया लुप्त हो जायगी।

११ कर्म और क्रिया दोनोमे अन्तर है। मान ले कि कहीपर खूब गुल-गपाडा मचा हुआ है और उसे बन्द करना है। एक सिपाही स्वय जोरसे चिल्लाकर कहता है–"शोर बन्द करो।" वहाँका शोर बन्द करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेकी तीव्र क्रिया करनी पडी। दूसरा कोई आकर चुपचाप खडा रहेगा और केवल अपनी अगुली उठाकर इशारा करेगा। इतनेसे ही लोग शान्त हो जायँगे। तीसरे व्यक्तिके केवल वहाँ उपस्थित होनेमात्रसे ही शाति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पडी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया उत्तरोत्तर कम होती गयी, किन्तु लोगोको शात करनेका काम समान रूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी, वैसे-ही-वैसे क्रियाकी तीव्रतामे कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायगी। कर्म भिन्न है और क्रिया भिन्न। कर्ताको

जो अत्यन्त इष्ट हो, वह कर्म—यही कर्मकी व्याख्या। कर्मकी प्रथमा और द्वितीया विभक्ति होती है, तो क्रियाके लिए स्वतन्त्र क्रियापद लगाना पडता है।

कर्म और क्रियामे जो अन्तर है, उसे समझ लीजिये। क्रोध आनेपर कोई बहुत बोलकर और कोई बिलकुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष लेशमात्र भी क्रिया नही करता, किंतु कर्म अनत करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोक-सग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो केवल उपस्थिति ही पर्याप्त है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हो, तो भी वह काम करता है, क्रिया सूक्ष्म होती है। कर्म उल्टे बढते जाते है। विचारकी यह धारा और आगे ले जायँ एव चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो जाय, तो अन्तमे क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनन्त होते रहेगे, ऐसा कह सकते है। पहले तीव्र, फिर तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह अपने-आप क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परन्तु तब अनन्त कर्म स्वत होते रहेगे।

१२ बाह्यरूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नही होगे। निष्कामतापूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिंगने 'ढोंगी पोप' शीर्षक एक कविता लिखी है। एक आदमीने पोपसे कहा—"तुम अपनेको इतना सजाते क्यो हो ? ये चोगे किसलिए ? ये ऊपरी ढोग क्यो ? यह गम्भीर मुद्रा किसलिए ?" उसने उत्तर दिया—"मै यह सब क्यो करता हूँ, सो सुनो। सभव है, यह नाटक, यह नकल करते-करते किसी दिन अनजानमे ही मुझमे श्रद्धाका सचार हो जाय।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा।

१०४. साधकके लिए स्वधर्मका हल

१३ साराश यह कि तामस और राजस कर्म तो बिलकुल छोड देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए। इसके साथ ही यह विवेक रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज और स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायँ, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नही है। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुडाना चाहोगे, तो दूसरे दोष पल्ले आ पडेगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो। उसे काटकर सुन्दर बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक तथा भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण नही छोडने चाहिए। उन्हे करना है, लेकिन उनका फल छोडना है।

१४ और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हो, उनके बारेमे तुम्हे ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते है, तो भी उन्हे मत करो। उतने ही कर्म करो, जितने सहज रूपसे प्राप्त हो। उखाड-पछाड और दौड-धूप करके दूसरे नये कर्मोका भार मत उठा लो। जिन कर्मोको खास तौरपर जोड-तोड लगाकर करना पडता हो, वे कितने ही अच्छे क्यो न हो, उनसे दूर रहो। उनका मोह न करो। जो कर्म सहजप्राप्त है, उन्हीके फलका त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारो ओर दौडने लगे, तो फिर कैसा फल-त्याग? उससे तो सारा जीवन ही बरबाद हो जायगा। फलकी आशासे ही वह इन पर-धर्मरूपी कर्मोको करना चाहेगा और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमे कही भी स्थिरता प्राप्त नही होगी। चित्तपर उस कर्मकी आसक्ति चिपट जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोका भी लोभ होने लगे, तो वह लोभ भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोको यदि करना चाहोगे, तो उसमे भी राजसता और तामसता आ जायगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक और सहजप्राप्त स्वधर्म है।

१५ स्वधर्ममे स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। इन तीनोके योगसे स्वधर्म बनता है। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्तव्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय दीखता है। तुममे 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमे उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमे ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे, तो यह उसके लिए सभव नही। वह स्वयप्राप्त बकरीपनका त्याग नही कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोडना पडेगा। नया धर्म और नया जन्म ग्रहण करना होगा, परन्तु इस जन्ममे तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। बैल और मेढकीकी कहानी है न? मेढकीके बढनेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना ठीक नही होता। इसीलिए परधर्मको 'भयावह' कहा गया है।

१६ फिर स्वधर्मके भी दो भाग है। एक बदलनेवाला भाग, दूसरा न बदलनेवाला। मै आज जो हूँ, वह कल नही और कल जो हूँ, वह परसो नही। मै निरन्तर बदल रहा हूँ। बचपनका स्वधर्म होता है, केवल सवर्धन। यौवनमे मुझमे भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी, तो उसके द्वारा मै समाजकी सेवा करूँगा।

प्रौढावस्थामे मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो वदलता रहनेवाला है और कुछ न वदलनेवाला। इन्हीको यदि पुराने शास्त्रीय नामोसे पुकारना है, तो हम कहेगे—"मनुष्यका वर्ण-धर्म है और आश्रम-धर्म है।" वर्ण-धर्म नही वदलता, आश्रम-धर्म वदलता रहता हे।

आश्रम-धर्म वदलता है—इसका अर्थ यह है कि व्रह्मचारी-पद सार्थक करके मै गृहस्थाश्रममे प्रवेश कर रहा हूँ, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममे और वानप्रस्थसे सन्यासमे जाता हूँ। इस तरह आश्रम-धर्म वदलता रहता है, तव भी वर्ण-धर्म वदला नही जा सकता। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मै छोड नही सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममे जो 'तुमपन' है, उसे तुम छोड नही सकते। इसी कल्पनापर वर्ण-धर्मकी योजना की गयी है। वर्ण-धर्मकी कल्पना वडी मधुर है। वर्ण-धर्म विलकुल अटल हे क्या? जैसे वकरीका वकरीपन, गायका गायपन है, वैसे ही क्या व्राह्मणका व्राह्मणत्व, क्षत्रियका क्षत्रियत्व है? मै मानता हूँ कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नही हे, लेकिन हमे इसका मर्म समझ लेना चाहिए। वर्ण-धर्म' का उपयोग जव सामाजिक व्यवस्थाकी एक युक्तिके रूपमे किया जाता है, तव उसमे अपवाद अवश्य होगा। ऐसा अपवाद मानना ही पडता है। गीताने भी इस अपवादको माना है। साराश, इन दोनो प्रकारोके धर्मोको पहचानकर, अवातर धर्म कितना ही सुन्दर और मोहक प्रतीत हो, तो भी उसे टालना चाहिए।

१०५. फलत्यागका कुल मिलाकर फलितार्थ

१७ फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये हे, उसमे निम्न-लिखित अर्थ निकला—

(१) राजस और तामस कर्मोका सपूर्ण त्याग।

(२) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहकार न हो।

(३) सात्त्विक कर्मोका स्वरूपत' त्याग न करते हुए केवल फल-त्याग।

(४) सात्त्विक-कर्म, जो फल-त्यागपूर्वक करने होते है, सदोप हो तो भी करना।

(५) सतत फल-त्यागपूर्वक उन सात्त्विक कर्मोको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह क्रियामात्रका लोप हो जायगा।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म—लोकसग्रहरूपी कर्म—होते ही रहेगे।

(७) सात्त्विक कर्म भी, जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हो, वे ही करे। जो सहजप्राप्त न हो, वे कितने ही अच्छे लगे तो भी उन्हे दूर ही रखे। उनका मोह न करे।

(८) सहजप्राप्त स्वधर्म भी फिर दो प्रकारका होता है—बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नही बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलते रहना चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

१८ प्रकृति बहती रहनी चाहिए। निर्झर बहता न रहेगा, तो उससे दुर्गंध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्मका है। मनुष्य पहले कुटुम्बको स्वीकार करता है। अपने विकासके लिए वह स्वयको कुटुम्बके बधनोमे बाँध लेता है। यहाँ वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है, परन्तु कुटुम्बी बनकर वह उसीमे जकड़ जायगा तो विनाश होगा। कुटुम्बमे रहना जो पहले धर्मरूप था, वही अधर्मरूप हो जायगा, क्योकि अब वह धर्म बधनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्मको आसक्तिके कारण न छोडे, तो भयानक स्थिति उत्पन्न होगी। अच्छी चीजकी भो आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफडोमे चले जाते है, तो सारा जीवन भीतरसे खा डालते है। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी असावधानीसे सात्त्विक कर्ममे घुस जायँगे, तो स्व-धर्म सडने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममे भी राजस और तामसकी दुर्गन्ध आने लगेगी। अत कुटुम्बरूपी यह बदलनेवाला स्व-धर्म यथासमय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी है। राष्ट्र-धर्ममे भी अगर आसक्ति आ जाय और केवल अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगे, तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बडी भयकर वस्तु होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमे आसक्ति घर कर लेगी और अधपात होगा।

१०६. साधनाकी पराकाष्ठा ही सिद्धि

१९ साराश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना हो, तो फल त्यागरूपी चितामणिको अपनाओ। वह आपका पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। यह दीपक निकट होनेपर अपने-आप यह पता चल जायगा कि कौन-सा काम करे, कौन-सा न करे और कौन-सा कब बदले।

२० परन्तु अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेगे। सपूर्ण क्रियाका लोप हो जानेकी जो अतिम स्थिति है, उसपर साधकको ध्यान रखना चाहिए

या नही ? साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थितिपर दृष्टि रखनी चाहिए, जिसमे क्रिया न करते हुए भी असख्य कर्म होते रहे ?

नही, यहाँ भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करना चाहिए। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुन्दर है कि हमे जो चाहिए, उसपर निगाह न रखने-पर भी वह हमे मिल जायगा। जीवनका सबसे बडा फल मोक्ष है। उस मोक्ष–उस अकर्मावस्था–का भी हमे लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमे अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। सन्यास कोई ऐसी वस्तु तो है नही कि दो बजकर पाँच मिनटपर अचानक आ मिलेगी। सन्यास यात्रिक वस्तु नही है। उसका तेरे जीवनमे किस तरह विकास होता जायगा, तुझे इसका पता भी न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिन्ता छोड।

२१ भक्त तो ईश्वरसे सदैव यही कहता है—'मेरे लिए यह भक्ति ही पर्याप्त है। मोक्ष-वह अतिम फल-मुझे नही चाहिए।'' मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है–एक फल ही तो है। इस मोक्षरूपी फलपर भी फल-त्यागकी कैची चलाओ, परन्तु इससे मोक्ष कही चला न जायगा। कैची टूट जायगी और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। इतनी तन्मयतासे साधना चलने दो कि मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुझे खोजता हुआ तेरे सामने आ खडा हो जाय। साधक तो बस अपनी साधनामे ही रँग जाय।

मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि।

भगवान्‌ने पहले ही कहा था कि अकर्म-दशाको, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अतमे कहते है—**अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच**। मै मोक्षदाता समर्थ हू। तू मोक्षकी चिता मत कर। तू तो केवल साधनाकी ही चिता कर।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तेरे पास चला आयेगा। मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनामे ही रत रहनेवाले साधकके गलेमे मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

२२ जहाँ साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वही सिद्धि हाथ जोडकर खडी रहती है। जिसे घर जाना है, वह यदि वृक्षके नीचे 'घर-घर' का जाप

करते बैठेगा, तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जगलमे ही रहनेकी नौवत आ जायगी। घरका स्मरण करते हुए यदि रास्तेमे विश्राम करने लग जाओगे, तो उस अतिम विश्रामस्थानसे दूर रह जाओगे। मुझे तो चलनेका ही प्रयत्न करना चाहिए। इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा। मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमे—मेरी साधनामे—शिथिलता आयेगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा। मोक्षको उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास वुलानेका उपाय है। अकर्म-स्थिति, विश्रातिकी लालसा मत रखो। साधनाका ही प्रेम रखो, तो मोक्ष मिलकर रहेगा। उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे प्रश्नका उत्तर नही मिलता। उसे हल करनेकी जो रीति आती है, उसीसे क्रमानुसार उत्तर मिलेगा। वह रीति जहाँ समाप्त होती है, वही उसका उत्तर रखा है। समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी ? रीतिसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा ? साधकावस्थामे सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी ? पानीमे डुबकियाँ खाते हुए परले पारके मौज-मजेमे ध्यान रहेगा, तो कैसे काम चलेगा ? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमे ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लाँघो, मोक्ष अपने-आप मिल जायगा।

१०७. सिद्ध पुरुषकी तेहरी भूमिका

२३ ज्ञानी पुरुपकी अतिम अवस्थामे सव क्रियाएँ लुप्त हो जाती है, शून्यरूप हो जाती है। पर इसका यह अर्थ नही कि अतिम स्थितिमे क्रिया होगी ही नही। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नही भी होगी। अतिम स्थिति अत्यन्त रमणीय और उदात्त है। इस अवस्थामे जो भी कुछ होगा, उसकी उसे चिता नही होती। जो भी होगा, वह शुभ और सुन्दर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठाकी दशापर वह खडा है। वहाँ सव कर्म करनेपर भी वह कुछ नही करेगा। सहार करनेपर भी सहार नही करेगा। कल्याण करनेपर भी कल्याण नही करेगा।

२४ यह अतिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाका अर्थ है—साधनाकी सहजावस्था। वहाँ इस बातकी कल्पना भी नही रहती कि मै कुछ कर रहा हूँ। अथवा इस दशाको मै साधक-की साधनाकी 'अनैतिकता' कहूँगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नही है। छोटा वच्चा सच वोलता है, पर वह नैतिक नही है, क्योकि झूठ क्या है, इसकी तो उसे कल्पना ही नही है। असत्यकी कल्पना होनेपर सत्य वोलना नैतिक कर्म

है। सिद्धावस्थामे असत्य है ही नही। वहाँ तो सत्य ही है। इसलिए वहाँ नीति नही। निषिद्ध वस्तु जहाँ खडी ही नही रह सकती, जो नही सुनना चाहिए वह कानके अन्दर जाता ही नही, जो वस्तु नही देखनी चाहिए वह आँखें देखती ही नही, जो होना चाहिए वही हाथोंसे होता है, उसका प्रयत्न नही करना पडता, जिसे टालना चाहिए उसे टालना नही पडता, वह अपने-आप ही टल जाता है—ऐसी यह नीतिशून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा हैं, इसे साधनाकी सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, इस अति-नैतिकतामे ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधनाकी नि सत्त्वता' भी कह सकते हैं।

२५ इस दशाका किस प्रकार वर्णन करें ? जिस तरह ग्रहणके पहले वेध लगता है, उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्षदशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पडने लग जाती है। देहावस्थामे ही भावी मोक्षस्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करनेमे वाणी लडखडाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नही करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे नापी जाय ? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सभी क्रियाओके क्षय हो जानेपर भी सम्पूर्ण विश्वका वह लोक-सग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करें, यह समझमे नही आता।

२६ इस अन्तिम अवस्थामे तीन भाव रहते है–एक है वामदेवको दशा। उनका यह प्रसिद्ध उद्गार है न–"इस विश्वमे जो कुछ भी है, वह मै हूँ।" ज्ञानी पुरुष निरहकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती हे। वह अवस्था एक देहमे समा नही सकती। भावावस्था क्रियावस्था नहीं है। भावावस्थाका अर्थ है–भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। अल्प मात्रामे इस भावावस्थाका अनुभव हम सबको हो सकता हे। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणोसे गुणी होती है। उसके दु खसे दु खी और सुखसे सुखी होती है। माँकी यह भावावस्था सतानतक सीमित हे। सतानके दोषोको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे ससारके दोष अपने मान लेता है।

वह त्रिभुवनके पापसे पापी और पुण्यसे पुण्यवान् बनता है और ऐसा होने-पर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्यसे वह लेशमात्र भी स्पर्शित नही होता।

२७ रुद्र-सूक्तमे ऋषि कहते हैं "यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे।" मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूँ दे। इस तरह माँगते ही रहनेवाले ऋषिका पेट

आखिर कितना बडा होगा ? लेकिन वह माँगनेवाला साढे तीन हाथके शरीरका नही है। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मै 'वैदिक विश्वात्म-भाव' कहता हूँ। वेदोमे इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है।

२८ गुजराती सत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते है—**बापूजी पाप मे कवण कीधा हशे, नाम लेता तारू निद्रा आवे।**—'हे ईश्वर, मैने ऐसे कौन-से पाप किये है, जो कीर्तनके समय भी मुझे नीद आती है!' नीद क्या नरसी मेहताको आ रही थी ? नीद तो श्रोताओको आ रही थी। परन्तु श्रोताओसे एकरूप होकर नरसी मेहता पूछ रहे है। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी ऐसी यह भावावस्था होती है। इस भावावस्थामे सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हे दिखाई देगे। वह स्वय भी यही कहेगा। वे ऋषि कहते है न—"न करने योग्य कितने ही कार्य मैने किये है, करता हूँ और करूँगा।" यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उडने लगता है। वह पार्थिवताके परे चला जाता है।

२९ इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुप स्वभावत क्या करेगा ? वह जो कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य-देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इन्द्रियाँ सात्त्विक बन गयी है, जिससे उसकी सारी क्रियाएँ सात्त्विक ही होगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखेंगे, तो सात्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमे दिखाई देगी। विश्वात्मभावकी दृष्टिसे देखेंगे, तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य वह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है, क्योकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेक दिया। क्षुद्र देहको उतारकर फेकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

३० भावावस्था और क्रियावस्थाके अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी ज्ञानी पुरुषकी है और वह है, ज्ञानावस्था। इस अवस्थामे न वह पाप सहन करता है, न पुण्य। सभी झटककर फेक देता है। इस अखिल विश्वको सलाई लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नही होता है। उसका स्पर्श ही उसे सहन नही होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्षदशामे—साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामे—ये तीन स्थितियाँ सभव है।

३१ यह अक्रियावस्था, अतिम दशा कैसे प्राप्त हो ? हम जो-जो भी कर्म करते है, उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा मनन करो कि 'मै तो निमित्तमात्र हूँ, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नही है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। किन्तु इसीसे सम्पूर्ण कर्तृत्व

चला जायगा, सो नही। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मै अतितुच्छ प्राणी हूँ, उसके हाथका खिलौना–कठपुतली हूँ, वह मुझे नचाता है। इसके वाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है वह शरीरजात है, मेरा उससे स्पर्शतक नही। ये सव क्रियाएँ इस शवकी है, परन्तु मै शव नही हूँ। 'मै शव नही, शिव हूँ', ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई सवध ही नही है, ज्ञानीकी यह अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामे फिर ऊपरकी तीन अवस्थाएँ होगी। पहले उसकी क्रियावस्था, जिसमे उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल और आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमे त्रिभुवनके पाप-पुण्य मै करता हूँ, ऐसा उसे अनुभव होगा, परन्तु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नही होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमे वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सव कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनो अवस्थाओके द्वारा ज्ञानी पुरुपका वर्णन किया जा सकता है।

१०८. "तुही ··तुही ··तुहो···तुही"

३२ इतना सव कहनेके वाद भगवान् अर्जुनसे कहते है—"अर्जुन, मैने तुझे यह जो सव कहा है, उसे तूने ध्यानसे तो सुना है न? अव पूर्ण विचार करके जो तुझे उचित लगे, वह कर।" इस तरह भगवान्ने वडी उदारतासे अर्जुनको स्वतत्रता दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। परन्तु भगवान्को फिर दया आ गयी। दिये हुए इच्छा-स्वातत्र्यको उन्होने फिर वापस ले लिया। कहा—"अर्जुन, तू अपनी इच्छा, अपनी साधना, सव-कुछ छोड दे और मेरी शरणमे आ जा।" इस तरह अपनी शरणमे आनेकी प्रेरणा करके भगवान्ने दिया हुआ इच्छा-स्वातत्र्य वापस ले लिया है। इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमे कोई स्वतत्र इच्छा ही न उठने दो। अपनी इच्छा नही, उसीकी इच्छा चलने दो।" मुझे स्वतत्र रूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतन्त्रता मुझे नही चाहिए। मै नही, सव-कुछ तू ही है, ऐसा हो। वह वकरी जीवित दशामे–"मे मे मे " करती है यानी "मै मै मै" कहती है। लेकिन मरनेपर उसकी ताँत वनाकर पीजनमे लगायी जाती है, तव दादू कहता है—'तुही, तुहो, तुही', तू ही, तू ही, तू ही, ऐसा वह कहती है। अव तो सव "तू ही, तू ही, तू ही!"

रविवार, १९-६-'३२

साम्यसूत्र-वृत्तिः

['गीता-प्रवचन ग्रथके १०८ अधिकरण और ४३२ परिच्छेद है। अधिकरणोपर अनुलक्षित १०८ साम्यसूत्र है। चिन्तन-सौलभ्यकी दृष्टिसे अधि-करणोके अन्तर्गत परिच्छेदोपर आधृत ४३२ सूत्रोकी रचना की है। पाठकोकी सुविधाके लिए विवेचनमें परिच्छेदोके भी आँकडे दिये है।]

अध्याय १

(१) अभिधेयं परम-साम्यम्--५

१ अथ गीतानुशासनम्

२ दीपस्तभवत्

३ रामायण-भारतयोर् वैशिष्टचम्

४ व्यासमुनेर् मननसार

५ कृष्णत्रयी

(२) संबंधेन--५

६ अर्जुनस्य भूमिका

७ वीरवृत्ति·

८ अहिंसकवत् भाषते अेव

९ मोहाध-न्यायाधीशवत्

१० प्रज्ञावाद

(३) प्रयोजनवत्त्वात्-५

११ अर्जुनस्य सन्यासो न स्वधर्म

१२ परधर्म श्रेष्ठ इति न ग्राह्य

१३ सुकर इति न स्वीकार्य

१४ भगवान् भक्त-सापेक्ष

१५ मोहमोचनमेव प्रयोजनम्

(४) ऋजुबुद्धेस्तु-१

१६ ऋजुबुद्धिरर्जुन

अध्याय २

(५) छंदसि बहुलम्-३

१ अर्जुन निमित्तीकृत्य

२ नित्यनूतन-परिभाषा

३ 'द'कारार्थवत्

(६) देहेन स्वधर्मः--२

४ स्वधर्म सहज सुकर

५ देहबुद्धया तु दुष्करो भवति

(७) मुक्तात्मा--७

६ तत्त्वज्ञान प्रथममावश्यकम्

७ नाह देह

८ देहो वस्त्रवत्

९ मरणःशब्दमपि न सहते पामर

१० आत्म-विस्तार कर्तव्य

११ आत्मा मोचनोत्सुक

१२ साराशत्रयी

(८) युक्त्या समन्वयः--३

१३ फलाशा त्यक्तव्या

१४ समत्व कुशलो गुण

१५ कर्मण्येवानदनिर्झर

(९) भक्त-जनेषु--४

१६ तुकारामस्य दृष्टान्त

१७ पुडलीकस्य च

(१९) **व्यक्तलिंगमेकम्–३**
१२ अकरणमपि कर्मप्रकार
१३ सुवर्णमजूपान्यायेन
१४ कर्मसातत्ये नैष्कर्म्यम्
(२०) **अव्यक्तलिंगमपरम्–२**
१५ सन्यासो गूढशक्ति
१६ आसीनो दूर व्रजति
(२१) **अनिर्वचनीयमुभयम्–३**
१७ उभयकथा रम्या
१८ सद्भि सदा सेव्या
१९ उदात्ता काव्यमयी
(२२) **विंदु-देवतादिवत्–४**
२० दृष्टान्ता अपूर्णा
२१ अमूर्तस्य भावन मूर्तौ
२२ यथा भूमिति-शास्त्रे
२३ यथा च मीमासा-दर्शने
(२३) **शुकजनकयोरेकः पंथा –४**
२४ अेकैव गुरु-परपरा
२५ शुकस्य ज्ञाननिष्ठा
२६ ज्ञानिनोऽस्तित्वमेव स्फूर्ति
२७ वेगचालित यत्र स्थिर भासते
(२४) **वैशेष्यं तु–५**
२८ सौकर्येण विशिष्यते कर्मयोग
२९ सगुणोपासनवत्
३० प्रयत्नावकाशात्
३१ अलिखित-पठन तु सन्यास
३२ केवल निष्ठैव

अध्याय ६

(२५) **आरोढुमिच्छेत्–३**
१ अथ विवरणारभ
२ गीता व्यवहार-शोधनाय
३ उच्चाकाक्षायामेव ध्यानादिप्रयोजनम्
(२६) **अेकाग्रतया–४**
४ अेकाग्रता प्राथमिकी
५ रणागणेऽपि
६ न ज्ञात शल्यमुद्धृतम्
७ वृद्धोऽपि तरुणायते
(२७) **साभीष्टा शुद्धिपूर्विका–५**
८ अतश्चक्र निवर्तयेत्
९ क्षुद्र-विपयेपु ज्ञानशक्ति न क्षपयेत्
१० शून्यमनेक च वर्जयेत्
११ जीवन शोधयेत्
१२ परदोप न पश्येत्
(२८) **गणितं सहकारि–३**
१३ युक्त जीवेत्
१४ आवृत्तचक्षु
१५ नातिमात्र तु भुजीत
(२९) **साम्येन मंगलम्–७**
१६ मगलायतन हरि
१७ विश्व तद् भद्र यदवन्ति देवा
१८ रामदासयोर् मतभेद !
१९ सृष्टिर् मातृसमा
२० अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम्
२१ हिमालयो हृदि स्थित
२२ समुद्राद्र्मिर् मधुमानुदारत्
(३०) **बालवत्–२**
२३ बलवान् बाल
२४ श्रद्धामूर्ति

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय १०

१२ भगवती भागीरथी दृश्यते
१३ द्वाविमौ वातौ वात
१४ अग्निमीळे पुरोहितम्
(५३) प्राणिषु चित्रम्-९
१५ वाश्रा इव धेनव स्यदमाना
१६ प्रामाणिक स्वामिनिष्ठोऽश्व
१७ अक्रूर कृतज्ञ सिंह
१८ व्याजिघ्रतीति व्याघ्र
१९ सत्सनिधौ निर्वैर सर्प
२० रामदूता वानरा
२१ षड्ज रौति मयूर
२२ महिलाना कोकिलाव्रतम्
२३ गोस्वामि-पूजित काक
(५४) दुरात्मसु चित्य तदेव-१
२४ स्तेनाना पतये नमो नमः

अध्याय ११

(५५) कृत्स्न न कामयेत-५
१ किं नाम विश्वरूपम् ?
२ अनत ब्रह्माडम्
३ निरवधि कालश्च
४ सर्वैतत् द्रष्टुमिच्छति
५ तस्मै दिव्यदृष्टिर् दत्ता
(५६) अंशेऽपि समावेशात्-४
६ बिंदु-सिंधु-न्यायेन
७ मूर्तिपूजा-रहस्यम्
८ उपमारूपकादि-स्वारस्यम्
९ उपमान-विस्तार
(५७) अनधिकृतत्वाच्च-४
१० दिव्यदृष्टिरपि भीत
११ कालविस्मरण तारकम्
१२ सामीप्ये नाधिकार
१३ चरण-सेवा पर्याप्ता
(५८) मत्कर्मादौ तात्पर्यम्-३
१४ विश्वगीत गेयम्
१५ सव्यसाचि-कार्यम्
१६ सर्वसार सेव्यम्

अध्याय १२

(५९) अेकाग्र च समग्र च-२
१ इद तु धर्म्यामृतम्
२ ध्यानादि-दर्शनान्त विवृतम्
(६०) तुल्य तु-५
३ इदानी क प्रियतर इति पृच्छा
४ मातृ-हृदय किं वदेत् ?
५ तथैव स्थितिरभूत् भगवत
६ योगि-सन्यासि-सदृशम्
७ सौलभ्येन समाधानम्
(६१) सगुण साधकं देहभृतः-५
८ मार्ग साधको बाधको दृष्टिसापेक्ष
९ सगुण सेवामय सुलभम्
१० निर्गुण चिंतामय कठिनम्
११ ज्ञानमक्षम सूक्ष्म-शोधनाय
१२ प्रायेण परोक्ष बौद्धिक तत्
(६२) बाधक तदप्यमर्यादम्-४
१३ सगुणमपि सदोषममर्याद चेत्
१४ तत्त्वनिष्ठया व्यक्तिनिष्ठा सुरक्षिता
१५ अेतदर्थ शरणत्रयी कल्पिता
१६ अत्याचार परिवर्जनीय

(६३) बोध्यं रामानुजयोर् दृष्टान्तेन-७

१७ अन्योन्यशोभा
१८ लक्ष्मण-भरतयो
१९ सख्यु सखा लक्ष्मण
२० ध्वजायँ दडवत्
२१ रामकार्यदर्शी भरत.
२२ महातपस्वी
२३ पादुकाश्रयमपेक्षते

(६४) कृष्णसखयोश्च-४

२४ भक्तिरनासक्तिरेकैव
२५ उद्धवार्जुनयो
२६ उद्धवो निर्गुणान्त
२७ अर्जुन सगुणान्त

(६५) आत्मप्रतीतेरभेदः-१

२८ स्वानुभवकथनम्

(६६) अमृत पर्युपास्यम्-४

२९ स्यात् शिलामयार्चन निर्गुणम्
३० स्यात् शिलामयार्चन सगुणम
३१ उभे परस्परपूरके
३२ लक्षणान्यभ्यस्यनीयानि

अध्याय १३

(६७) शरीरात् प्रवृहेत्-४

१ व्यास ममासो गीतायाम्
२ आचारशुद्धिर् विचारेण
३ फलवासना प्रेरकशक्तिर् मन्यते
४ तन्निरसनाय देहात्मपृथक् करणम्

(६८) अन्यथा सस्कारासंभव -५

५ देहपूजा व्यर्था
६ देहनिंदापि व्यर्थैव
७ आत्माधार शिक्षणशास्त्रम्
८ 'अह' सर्वथा निर्मल
९ साक्षित्वेन सस्कार सभवेत्

(६९) क्लिष्ट-जीवितं च-४

१० रक्ष्याणा भक्षणम्
११ भैषज्यातिरेक
१२ पिंडपोषणवृत्ति
१३ कृत्रिम-वेषभूषा

(७०) महावाक्यमनुचिंतयेत्-३

१४ तत्त्वमसि-सूत्रम्
१५ तन्निदिध्यासेन देहस्वाम्यम्
१६ वस्त्रवत् धारयेत् जह्याच्च

(७१) ततः शासनमुक्ति -३

१७ 'अश्नामि'—राक्षस
१८ हुतात्म-परपरा
१९ अजरामर सुक्रात

(७२) आत्मशक्तेर् भानात्-२

२० किमाश्वस्तो निद्राति ?
२१ विश्वशक्तिमाश्वस्त

(७३) आविः सनिहिततरम्-८

२२ द्रष्टृ-भूमिका प्रथमा
२३ नैतिकी द्वितीया
२४ नैतिक्यामनुमन्ता
२५ श्राता तृतीया
२६ श्रातस्य सख्याय भर्ता
२७ भोक्तृ-भूमिका चतुर्थी
२८ माहेश्वरी पचमी
२९ अेव परमात्मशक्तेराविष्कार

(७४) विशल्या–२
३० ख्रिस्तबलिदानमत्र मननीयम्
३१ सद्गुण-संवर्धनमेव ज्ञानम्
३२ ज्ञानदेवेनाविष्कृतम्

अध्याय १४

(७५) प्रकृति. शोध्या ३
१ शृंखला भेदनीया
२ विवेकवैराग्याभ्याम्
३ त्रिधातुका शोधनीया

(७६) श्रम-संजात-वारिणा–५
४ शरीरस्थो महारिपु
५ पाद प्रविष्ट कलि
६ ममाजग् छिन्नभिन्न
७ रुंडमुंड-वर्गभेदेन
८ श्रमनिष्ठा रामबाण

(७७) यन्ति प्रमादमतंद्रा·–४
९ गाढनिद्रा सुदुर्लभा
१० चक्री न सुख शेते
११ विस्मृतिर् व्याधि
१२ प्रमादो मृत्यु

(७८) वेगस्य शमनं स्वधर्मेण–४
१३ तम प्रतीप रज
१४ रजोलक्षण वेग
१५ सतत भ्रामयति
१६ रजोमारण स्वधर्मेण

(७९) स्वाभाविकत्वात्–४
१७ स्वधरम स्वभावनियतः
१८ जन्म-जात
१९ प्रवाह-प्राप्त
२० चांचल्य-मोचन

(८०) सत्त्वस्य सत्त्वेन-६
२१ सत्त्व जयेत् सावधान
२२ सातत्येन
२३ निरहंकारेण
२४ कारुण्यासक्ति-वर्जनेन
२५ कीर्ति-परिहारेण
२६ अंतिमफलत्यागेन

(८१) भक्त्यैव तु निस्तारः–२
२७ अखंड-जागरम् तारण
२८ हरिकृपा च

अध्याय १५

(८२) पुरुषकारात् भक्तिरभिन्ना–५
१ पूर्णयोग
२ वृक्षरूपकम्
३ त्रैगुण्य-रामायणम्
४ निस्त्रैगुण्ये कमलवत्
५ यत्नवीर कामयन्ते वेदा

(८३) तया स सुकर·-२
६ ज्ञानकर्मप्रेम्णम् त्रिपदी
७ प्रेम्णा तप शीतलम्

(८४) त्रैत सेवार्थम्–५
८ सेव्य-सेवक-साधन-त्रिपुटी
९ सेव्य-सेवकौ सनातनौ
१० साधनरूपा सृष्टिर् नित्यनूतनी
११ चंद्रकला सुमनमाला
१२ नवनव-प्रसवा

(८५) सैव भक्तिरनहंकृता चेत्–२
१३ दैनंदिनी सेवा
१४ निरहंकृता भक्तिरूपा

अध्याय १८

●

"मै चाहता हूँ कि 'गीता-प्रवचन' हर घरमे पहुँचे और घर-घरमे इसका श्रवण, मनन और पठन हो।"

विनोबा